विवेकशिखा

ी रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

—१६ | जनवरी—१९९७ | अंक—१

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

१५१. श्री श्री रामगोपाल रेमका—कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी—इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश तिवारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा—काठमाण्डू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. श्रीमती गिरिजा देवी—बसरिया (बिहार)
१५७. श्री अशोक कौशिक-मालवीय नगर, (नई दिल्ली)
१५८. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)
१५९. श्रीरामकृष्ण साधना कुटीर, खण्डवा (म० प्र०)
१६०. श्रीमती आभा रानाडे, अहमदाबाद (म० प्र०)
१६१. श्री डी० एन० थानवी, जोधपुर (राजस्थान)
१६२. श्री मोहन लाल यादव, नाहर कटिया (आ०)
१६३. डा० (श्रीमती) रेखा अग्रवाल, शाहजहाँपुर (उ प्र.)
१६४. डॉ० (श्रीमती) सुनीला मल्लिक—नई दिल्ली
१६५. श्रीरामकृष्ण संस्कृतिपीठ, कामठी (नागपुर)
१६६. कुमारी जसवीर कौर आहूजा, पटियाला, पंजाब
१६७. श्रीमती मंजुला बोर्दिया, उदयपुर (राजस्थान)
१६८. श्रीमती मृदेश, अम्बाला शहर (हरयाणा)
१६९. डॉ० अजय खन्ना (बरेली उ० प्र०)
१७०. श्री एस० टी पुराणिक—नागपुर
१७१. श्री धन्नालाल अमृतलाल सोलंकी, कलवानी
१७२. डॉ० कमलाकांत, बड़ोदा (गुजरात)
१७३. डॉ० विनया पेण्डसे, उदयपुर (राजस्थान)
१७४. सन्तोष बोनी, रामबन (जम्मू एवं कश्मीर)
१७५. श्री राजीभाई बी० पटेल, सूरत (गुजरात)
१७६. श्री प्रकाश देवपुरा—उदयपुर (राजस्थान)
१७७. श्री एस० के० मुन्दरा, जामनगर (गुजरात)
१७८. डॉ० मोहन बन्सल, आनन्द (गुजरात)
१७९. अडकिया कन्सलटेन्ट्स, प्रालि० मुम्बई
१८०. सुश्री एस० पी० त्रिवेदी—राजकोट (गुजरात)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्य किये बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष —१६ | जनवरी—१९९७ | अंक-१

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक :

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

विवेक शिखा

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

फोन : ०६१५२-२२६३६

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीमाँ सारदा देवी ने कहा है

(१)

जिसने भी सच्चे मन से ईश्वर को एक भी बार पुकारा है उसे कोई भय नहीं है। उन्हें निरन्तर पुकारते रहने से प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है। बेटा, यह प्रेम ही आध्यात्मिक जीवन का सार है। बृन्दावन की गोपियों ने इसे प्राप्त किया था। वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार की किसी भी वस्तु को नहीं जानती थीं।

(२)

सचमुच ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) ईश्वर ही थे। उन्होंने दूसरों के दुःखों और कष्टों को दूर करने के लिए मानव देह धारण की थी। वे वैसे ही रहे जैसे एक राजा अपने नगर में वेश बदलकर घूमता है। जैसे ही लोगों ने उन्हें पहचाना वैसे ही वे अदृश्य हो गये।

(३)

रोज पन्द्रह-बीस हजार जप करने से मन स्थिर हो जायगा। यह नितान्त सत्य है···। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। उन लोगों को पहले ऐसा करने दो, इससे कुछ लाभ न हो तो कहें।

(४)

भगवान् से प्रार्थना करो कि वे तुम्हारा हृदय स्फटिक के समान पवित्र कर दें। जब तुम निष्ठापूर्बक जप और ध्यान करोगे, तो तुम देखोगे कि भगवान् तुमसे बातें करने लगेंगे। तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाएँगी और तुम परम आनन्द का अनुभव करोगे।

(५)

ठाकुर पर बिश्वास रखो। वे तुम्हारी बिपदाओं से रक्षा करेंगे और तुम्हें मानसिक शान्ति देंगे।

श्रीसारदा नवकम्

सर्वसौभाग्य-सन्दोहे ब्रह्मानन्द पयस्विनी ।
रामकृष्णार्चिते शुद्धे सारदे त्वां नमाम्यहम् ।। १

विवेकानन्द संध्येयां क्षमारूपां तपस्विनीम् ।
सारदां दिव्यभूषां त्वां नारायणि स्मराम्यहम् ।। २

माहेशि महदाराध्ये चित् प्रेमानन्द संप्रदे ।
सारदे जगतामाद्ये नारायणि नमोऽस्तुते ।। ३

महापुरुष संसेव्ये हंसेश्वरि सुमंगले ।
शिवानन्दप्रदे मातः सारदे त्वामहं भजे ।। ४

सारदानन्द सम्पूज्ये वरेण्ये सारदायिके ।
प्रसन्नवदनाम्भोजे सारदे त्वां नतोऽस्म्यहम् ।।५

विमले कमले सीते शारदे सारदे शिवे ।
कलि कल्मष पापन्धे कात्यायनि नमोऽस्तुते ।। ६

यतिसंघ समाराध्ये यतिसंघ-सुहासिनि ।
तत्संघयाणदात्री त्वं सारदे त्वां नता वयम् ।। ७

सारदे वरदे मातर्ब्रह्मशक्ति सनातनि ।
निष्कलंक:सुचरित्रं भक्तिमन्तं कुरुष्व माम् ।। ८

सर्वोत्कृष्ट गुणधारे गुणाढ्ये सर्वसाधिके ।
शरण्ये सारदे दुर्गे नारायणि नमोऽस्तुते ।। ९

(जय) नारायणि नमोऽस्तुते, नरायणि नमोऽस्तुते ।
नारायणि नमोऽस्तुते, नारायणि नमोऽस्तुते ।।

तुम अमर आनन्द के भागीदार हो

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव, जगज्जननी श्रीमां सारदा देवी और विश्ववंद्य युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द का आशीर्वाद इस नये वर्ष में आप सब पर बरसता रहे। नया वर्ष आपको सम्पन्नता, प्रसन्नता और प्रपन्नता प्रदान करे। आपका जीवन भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध और समुन्नत हो। आपका जीवन मंगलमय, भद्र एवं शिवात्मक हो। अपने त्रिदेवों से यही मेरी आन्तरिक प्रार्थना है।

विवेक शिखा बाधा-विपदाओं की चट्टानों से संघर्ष करती हुई आपके स्नेह-सहयोग से अपने जीवन के १५ वर्ष पार कर इस माह से १६वें वर्ष में प्रवेश कर रही है। इसका शैशव वीता, कैशोर्य वीता और अब यह तरुणाई की अंगराई ले रही है। मैं आप सब के स्नेह से अभिभूत हूँ, सुख-दुःख में सहभागिता से विमुग्ध हूँ। मुझे विश्वास है, आपके स्नेह-सहयोग के सम्बल से विवेक शिखा आगे भी आपके द्वार पर दस्तक देती रहेगी, आपके मन-प्राणों में अपना प्रकाश उड़ेलती रहेगी।

यह नया वर्ष कई दृष्टियों से हमलोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह हमारे लिए गौरव का वर्ष है, उत्सव का वर्ष है, आनन्द और उल्लास का वर्ष है। नये संकल्पों का वर्ष है, नयी चेतना का वर्ष है, आन्तरिक विस्तार और आत्मोन्मेष का वर्ष है।

इस वर्ष का आरम्भ ही श्रीमाँ सारदा देवी के अवतरण-दिवस-उत्सव से हुआ है। १ जनवरी को ही कल्पतरु दिवस भी है। इस वर्ष के प्रथम माह का अन्तिम दिन जगद्गुरु स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव का पुण्य दिन है। और पूरा वर्ष ही पश्चिमी जगत से स्वामीजी के भारत प्रत्यावर्तन के शतवार्षिक-समारोहों का वर्ष है। इसके साथ ही यही वर्ष विश्वविख्यात रामकृष्ण मिशन की स्थापना का शतवार्षिकी वर्ष है। श्रीरामकृष्ण के अनुरागी भक्तों के लिए यह पूरा वर्ष ही आनन्द, आनन्द और केवल आनन्द का वर्ष है।

आप सब इस तथ्य से अवगत हैं कि विश्व धर्म सभा में अपनी ऐतिहासिक सहभागिता तथा चार वर्षों तक पश्चिमी देशों को भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की बाढ़ से आप्लावित कर देने के उपरान्त दिग्विजयी स्वामी विवेकानन्द ने २६ जनवरी, १८९७ को भारतीय भूमि पम्बम में पदार्पण किया था और दूसरे ही दिन रामेश्वरम् में उनका शुभागमन हुआ था। और तब से आजीवन उन्होंने समग्र भारत के सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिए अमृत मंत्रों की वृष्टि की थी।

यह वर्ष स्वामीजी के उन अमृत मंत्रों के स्मरण, मनन और निदिध्यासन का वर्ष है। उन अमृत मंत्रों की ध्वनि में अपने जीवन और अपने राष्ट्र को ढालने का वर्ष है। क्या थे उनके अमृत मंत्र! आइए, हम उनका स्मरण करें।

जब ३१ मई, १८९३ को स्वामीजी ने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया था तब वे एक अज्ञात, अनजाने भारतीय युवा-संन्यासी मात्र थे। कुछ एक लोगों को छोड़कर कोई उनके विषय में कुछ जानता तक नहीं था। किन्तु जब उन्होंने चार वर्षों के उपरान्त भारत-भूमि पर अपने पैर रखे थे तब वे विश्व के शिखर पुरुष हो गये थे। वे आध्यात्मिक दृष्टि से विश्वविजयी, दिग्विजयी होकर लौटे थे। यह एक

चमत्कार था, विलक्षण विस्मय का विषय। उनके व्यक्तित्व के दिव्य आभामंडल से विश्व चकित चमत्कृत और अभिभूत था।

आखिर इसका रहस्य क्या था? रहस्य मात्र इतना था कि पश्चिमी जगत ने पहली बार उनके किन्नर-कंठ से जीवन का दिव्य संगीत सुना था, रसमय अनाहत नाद सुना था—'हे अमृत के अधिकारी-गण! तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी! मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह मानव-स्वभाव पर घोर लांछन है। उठो! आओ! ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो, तुम तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो।' (शिकागो वक्तृता २५-२६)

जो अब तक अपने को भेड़-मेमने समझते थे उन्हें इस अमृत मंत्र में बिथोवन का संगीत सुनाई पड़ा था, हैण्डेल का अभियान-गीत सुनाई पड़ा था, जीवन-निर्झर का एक भैरव-रव सुनाई पड़ा था। उन्हें बिजली का एक झटका-सा लगा था। उनकी सुप्त चेतना अँगड़ाने लगी थी। उनकी हीन ग्रंथि चरमराकर टूटने लगी थी। उन्हें लगने लगा था कि वे वस्तुत: पापी और हीन नहीं बल्कि अव्यक्त ब्रह्म हैं, आत्मस्वरूप हैं, स्वयं परमात्मा हैं। कोई उनका चरवाहा नहीं, जो मनचाहा उन्हें हाँके, बल्कि वे स्वयं अपना उद्धारकर्ता हैं। वे स्वयं अपने शत्रु और स्वयं अपने मित्र हैं।

स्वामीजी के उपर्युक्त अग्नि मंत्रों से न केवल पश्चिमी जगत के लोगों की तंद्रा टूटी थी, मोह भंग हुआ था बल्कि भारतीयों में भी नयी स्फूर्ति का संचार हुआ था। यद्यपि स्वामीजी के कंठों से उद्गीर्ण ये मंत्र पूर्णत: भारतीय थे किन्तु वे कुछ ही पण्डितों तक सीमित थे। स्वामीजी ने उन्हें जन-जन तक पहुँचाया। शताब्दियों से पराधीनता की शृंखला में जकड़े और दासता की मार झेलते हुए जो भारतीय यह भी भूल गये थे कि वे भी मनुष्य हैं उनकी धमनियों में एक ऊष्ण रक्त का संचार होने लगा। उनका सोया सिंह कसमसाने लगा। उनका देवत्व अँगड़ाइयाँ लेने लगा और उनका ब्रह्म-भाव प्रखर होने लगा। फल! फल यह हुआ कि भारत मात्र ५० वर्षों में ही स्वाधीन हो गया। उसकी दासता गयी। अंधकार मिटा। स्वाधीनता का स्वर्णिम सूर्योदय हुआ। उसमें एक आत्म विश्वास का कैलाश उठ खड़ा हुआ और भारत का रथ प्रकाश के पथ पर घर्घर नाद करता हुआ बढ़ निकला।

स्वामीजी ने भारतीयों को नींद से झकझोरते हुए सिंह गर्जना की—'क्या तुम बता सकते हो कि भारत अन्य सब आर्य जातियों से पिछड़ा हुआ क्यों रहे? भारत की बुद्धि क्या कुछ कम है?······आवश्यक इतना ही है कि वह मोह निद्रा से, सैकड़ों सदियों को दीर्घ निद्रा से जाग जाय और संसार की समग्र जातियों के बीच उसका जो यथार्थ कार्य है, उसे ग्रहण कर ले।·········'त्याग' और 'सेवा' ही भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं—इन दो बातों में भारत को उन्नत करो। ऐसा होने पर सब कुछ अपने आप ही उन्नत हो जायगा।' (स्वामी विवेकानन्द से वार्तालाप : ८१-८३)

हमारी अनेक समस्याओं का कारण यह है कि हमें धर्म के नाम से ही चिढ़ होने लगी है और हम सर्वधर्म समभाव की जगह एक प्रकार की झूठी धर्मनिरपेक्षता का ढोल पीटकर लोगों को दिग्भ्रमित करने लगे हैं। स्वामीजी ने अपने शार्दूलनाद से कहा—'हे मेरे मित्रों, हमारी जाति अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गयी है। और देखोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म

है तथा भाव धर्म है। आपकी राजनीति, समाजनीति, रास्ते की सफाई, प्लेग निवारण, दुर्भिक्ष-पीड़ितों को अन्नदान आदि-आदि चिरकाल से इस देश में जैसे हुआ है वैसे ही होगा—अर्थात् धर्म के द्वारा यदि होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। आपके रोने चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा।

(प्राच्य और पाश्चात्य, षष्ठ संस्करण पृ० २२-२३)

स्वामीजी ने विश्वधर्म सभा में सभी धर्मों के प्रति समादर के भाव का उपदेश दिया। उन्होंने सभी धर्मों को 'सहने' का नहीं 'स्वीकार' करने का मंत्र दिया। लेकिन भारत में तो यह भाव हमारी घुट्टी में रचा-बसा है अतः भारत आने पर स्वामीजी का मुख्य विषय भारत का अभ्युत्थान था। भारतवासियों की दरिद्रता उनके मन-प्राणों को मथ देती थी। कोटि-कोटि दीन जनों का पिछड़ापन विभिन्न जातियों का शोषण-उत्पीड़ण, महिलाओं की उपेक्षा एवं अवमानना उसके मर्म को व्यथित कर देती थी। और इन सब पर स्वामीजी ने भारतीयों को झकझोरा। इतना ही नहीं भारत की ऐसी कोई भी समस्या नहीं थी जिस पर स्वामीजी ने सूक्ष्मतापूर्वक विचार नहीं किया। शिक्षा एवं समाज, धर्म एवं नीति, श्रद्धा एवं बल, जाति एवं संस्कृति, कला, साहित्य एवं संगीत—मनुष्य का प्रत्येक भाव स्वामीजी के विचार एवं लगाव का विषय था। वे भारत को उसकी समग्रता में विकसित करने को विकल थे। तभी तो कभी वे कहते थे—ऐ भारत! तुम भूलना नहीं कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है, मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरुप रखे गये हो···तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। भारत तुम्हारे बचपन का भूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है।" तो कभी वे चीत्कार कर उठते हैं—'मेरी समझ में देश के जनसाधारण की अवहेलना करना ही हमारा महान राष्ट्रीय पाप है और वह हमारी अवनति का एक कारण है।······यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा।······भारत के सभी अनर्थों की जड़ है—जन साधारण की गरीबी। पाश्चात्य देश के गरीब तो निरे पशु हैं, उनकी तुलना में हमारे यहाँ के गरीब तो देवता हैं। अपने निम्न श्रेणीवालों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है—उनको शिक्षा देना उन्हें सिखाना कि इस संसार में तुम भी मनुष्य हो, तुमलोग भी प्रयत्न करने पर अपनी सब प्रकार से उन्नति कर सकते हो!'

(पत्रावली पृ० १३४)

स्वामीजी ने भारतीयों को समझाया कि वे स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। उन्हें सबल, सशक्त निर्भीक और कर्मठ होना ही होगा। उन्हें अपने आप में श्रद्धा और विश्वास रखना होगा, विश्वास—विश्वास। अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास—यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है। स्वामीजी ने लोगों को आत्म-सम्मान की सीख दी। यह उनके उपदेशों का ही परिणाम था कि सोया हुआ भारत रूपी सिंह एक बार पुनः जग उठा। लोगों ने तो कभी इसकी कल्पना तक नहीं की थी। हमारे स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी नेताओं —गोखले, गाँधी, नेहरू, तिलक, सुभाष, राजगोपालाचारी आदि सब—ने उनसे प्रेरणा लेकर अपने प्राणों को राष्ट्र के लिए उत्सर्ग किया और मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि भारत की स्वाधीनता का मुख्य कारण था—स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र को आह्वान, स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र के नाम अर्पित उदात्त विचारों का शंख-घोष। आइए हम भी यह नया वर्ष—१९९७ का वर्ष—स्वामी विवेकानन्द के नाम अर्पित करें, उत्सवों-समारोहों का आयोजन कर और उनके सन्देशों को अपने आचरण में उतार कर।

श्री श्रीमाँ की बातें

—स्वामी निर्वाणानन्द

[बंगला मासिक 'उद्‌बोधन' के पौष १४०२ संख्या १२-(दिसम्बर, १९९५) अंक में प्रकाशित संस्मरण का यह हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं— स्वामी चिरन्तनानन्द]

सन् १९१८ ई० में काशी सेवाश्रम में ब्रह्मचारी के रूप में मैंने अपना योगदान दिया। उस समय महाराज, महापुरुष महाराज, हरि महाराज, मास्टर महाशय वहाँ पर थे। श्री श्रीमाँ भी उस समय वहीं 'लक्ष्मी-निवास' में थीं। उसी समय माँ को एक दिन पालकी से सेवाश्रम लाया गया। साथ में शान्तानन्द महाराज एवं चारुबाबू (बाद में स्वामी शुभानन्द) थे। माँ कुर्सी पर बैठीं। एक भक्त ने पूछा 'माँ, सेवाश्रम किस प्रकार देखा ?" माँ ने कहा, "देखा ठाकुर ही विराज रहे हैं। रोगियों की साक्षात् नारायण भाव से सेवा करके लड़के उनकी ही सेवा कर रहे हैं।" माँ द्वारा यह बात कहने के बाद हमलोगों के भीतर और प्रेरणा उत्पन्न हुई। सेवाश्रम में उस समय साधु-ब्रह्मचारियों की संख्या कम थी। इनडोर के रोगियों की सेवा का दायित्व मुझे दिया गया था। नारायण भाव से सेवा वास्तव में बहुत कठिन है। दो साल सेवाश्रम में था, नारायण भाव से सेवा करने के लिए बहुत चेष्टा की थी। श्री श्रीमाँ की बातों से बल पाकर, महाराज के उत्साह, हरि महाराज की प्रेरणा—इन सब के बलते ही वह कर पाया था।

सन् १९१५ ई० का मार्च अप्रैल होगा। मैं उस समय महाराज की सेवा में बेलुड़ मठ में था। देखता, मेरी उम्र के अनेक साधु-ब्रह्मचारी महाराज से अनुमति लेकर तपस्या करने जाते। हिमालय अथवा अन्य किसी स्थान पर एक-आध वर्ष के लिए तपस्या करके वापस आते। मैंने भी एक दिन महाराज के निकट जाकर तपस्या के लिए अनुमति माँगी। उन्होंने तुरन्त कहा, "तब फिर तू यहाँ क्या कर रहा है ? यह जो सेवा कर रहा है, यह तपस्या से भी अधिक हो रही है। तुमको और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं।" फिर भी मैं जब बारम्बार विनय-अनुनय करने लगा, तो उन्होंने मुझे महापुरुष महाराज से अनुमति लेने के लिए कहा। महापुरुष महाराज ने मेरी बात सुनते ही कहा, "तू क्या पागल हो गया है ? तपस्या करने के लिए और कहाँ जाओगे ? यह जो महाराज की सेवा कर रहे हो, इससे ही सब होगा, जान लो।" मैं फिर भी जोर करने लगा, तब उन्होंने कहा, "अच्छा, बाबूराम महाराज के पास जा, वे अनुमति दें तभी जाना।" बाबूराम महाराज के पास गया। मेरा निवेदन सुनकर उन्होंने भी एक ही उत्तर दिया किन्तु और भी जोरपूर्वक, कहा, "तुम क्या सचमुच ही पागल हो गए हो, सुज्जि ? देखते नहीं, महाराज के भीतर ठाकुर विद्यमान हैं ? और कहीं जाने से क्या तू भगवान के मानसपुत्र का साक्षात् सान्निध्य पायेगा ?" फिर भी मेरी जिद्द करते रहने से उन्होंने कहा, "ठीक है, उद्‌बोधन में माँ हैं। माँ यदि अनुमति दें, जाना। प्रथम कालीघाट जाकर माँ काली को पूजा देना, फिर माँ के पास उनके आशीर्वाद के लिए जाना। याद रखना, कालीघाट

में जो हैं और बागबाजार (उद्‌बोधन) में जो हैं, वे एक हैं।"

कालीघाट मंदिर में प्रणाम कर उद्‌बोधन पहुँचा। देखा, माँ के दर्शनार्थियों की लाइन में मैं ही अंतिम प्रार्थी था। दूर से देख रहा हूँ, माँ घूँघट डालकर बैठी हैं और जो भी प्रणाम कर रहे हैं उनको आशीर्वाद दे रही हैं। अन्त में मेरी बारी आई। अन्य सब भक्त चले गये हैं। पैर पर सिर टिकाकर साष्टांग प्रणाम कर जब उठकर खड़ा हुआ तो देखता हूँ माँ ने सम्पूर्ण घूँघट खोल दिया है। हँसकर मुझसे कहा, "ये मिठाई लो बेटा, खाओ।" स्वयं के हाथ से उन्होंने मुझे मिठाई प्रसाद एवं एक गिलास पानी दिया। माँ को मठ का समाचार दिया। अन्त में अपनी प्रार्थना बताई। माँ ने भी वही बात कही। उन्होंने कहा, "मठ छोड़कर, राखाल को छोड़कर तुम कहाँ तपस्या करने जाओगे? राखाल की सेवा कर रहे हो, उससे ही क्या सब नहीं हो रहा?" किन्तु मैं छोटे बच्चे की तरह उनकी अनुमति और आशीर्वाद के लिए जिद्द करने लगा। मुझे छोड़ते न देख अन्त में उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम तपस्या करने जा सकते हो—काशी में जा सकते हो। किन्तु मेरी एक बात माननी होगी, इच्छापूर्वक कठोरता न करना, सेवाश्रम में रहना और अधिक इच्छा होने से बाहर मधुकरी द्वारा खा सकते, काशीवास भी होगा और तपस्या भी होगी।" मैंने माँ से प्रतिज्ञा की, फिर पैदल काशी जाने के लिए उनकी अनुमति चाही। माँ ने अनुमति दी, परन्तु पैदल जाने की बात उन्हें अच्छी नहीं लगी यह भी समझा। इसके बाद माँ को प्रणाम कर उनका अजस्र आशीर्वाद पाकर खुशी-खुशी मठ वापस आया। महाराज, महापुरुष महाराज, बाबूराम महाराज को सब बताया। कुछ दिन बाद छोटा एक झोला लेकर एकदिन भोर के समय काशी जाने के लिए मठ से निकला। अकेले ग्रांड ट्रंक रोड पर चलना शुरू किया। भादों का महीना। चलते-चलते समझा, पैदल जाना माँ की इच्छा नहीं है। रास्ते में बहुत अस्वस्थ एवं दुर्बल हो गया था। तीसरे दिन संध्या के समय बंगाल बिहार बोर्डर पर एक गाँव में पहुँचा। बहुत खोजने के बाद एक शिवमंदिर मिला। वहीं रात भर के लिए आश्रय लिया। कुछ देर बाद ही एक विधवा महिला मंदिर में शिव दर्शन करने के लिए आईं। देखने से संभ्रान्त परिवार की महिला लगीं। मुझे देखकर वे समझीं कि मैं अस्वस्थ एवं अत्यन्त थका हुआ हूँ। इसके बाद मुझसे पूछताछ करके जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बेलुड़ मठ से आया हूँ, तुरन्त ही मुझे अपने घर रात व्यतीत करने का आग्रह किया, क्योंकि इस मंदिर में सोने के लिए कोई स्थान नहीं था। मैं 'न' बोलने ही वाला था, कि माँ की बात याद आ गयी—"इच्छापूर्वक कठोरता नहीं करना।" अतः बिना कुछ कहे उनके साथ चला। उनके घर जाकर देखता हूँ, पूरा परिवार ही श्रीरामकृष्ण का भक्त है। जितना संभव हो सका उन लोगों ने मुझे बहुत आदर-पूर्वक रखा। तीन दिन बाद ऐसा लगा कि मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ अब फिर से चलना शुरू कर सकता हूँ, किन्तु उसी वृद्धा ने कहा, "न बाबा तुम अभी दुर्बल हो। अकेले इतनी दूर चलकर काशी पहुँचकर तुम और तपस्या कर नहीं सकोगे। यह लो तुम्हारे ट्रेन का टिकिट, तुम ट्रेन में जाओगे।" माँ की बात याद आयी, अतः इस बार भी 'न' नहीं बोल सका। उन लोगों ने पास के ही एक स्टेशन पर जाकर मुझे ट्रेन में चढ़ा दिया। काशी पहुँच गया।

माँ ने कहा था, "सेवाश्रम में रहना और बहुत इच्छा होने से बाहर में मधुकरी कर खा सकते हो।" परन्तु तपस्या की प्रबल प्रेरणा से मैंने

ठीक किया—जितने दिन तपस्या करूँगा, बाहर में ही रहूँगा। सेवाश्रम में रहने से, रहने के स्थान के बारे में निश्चित होने के कारण तपस्या की क्षति होगी, अतः बाहर में रहूँगा एवं भिक्षा माँगकर खाऊँगा। गंगा के किनारे एक पुराने वाटिका-गृह में जगह भी मिल गयी एवं सचमुच ही केवल भिक्षा के ऊपर निर्भर कर ध्यान-जप-तपस्या में दिन व्यतीत करने लगा। जहाँ रहता था वह स्थान पूरी तरह स्वास्थ्यकर नहीं था। विभिन्न प्रकार के कीड़े-मकोड़े एवं मच्छरों के उपद्रव से व्याकुल हो जाना पड़ता। समझ में आया, क्यों माँ ने सेवाश्रम में रहने एवं "बहुत इच्छा होने से" मधुकरी कर खा सकते हो, कहा था। उत्तर भारत की मधुकरी की रोटी-दाल मुझे सहन नहीं हुई, शीघ्र ही अत्यन्त दुर्बल बोध करने लगा, ऐसा लगा मानो मन का उत्साह कम हो रहा है। मन में उद्दीपना लाने के लिए पूज्यपाद लाटू महाराज के पास गया। वे उस समय वहाँ गंगा के किनारे एक घाट पर रहते थे। मुझे देखकर उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा, "सुजि, तुमको क्या हुआ है? इतने कमजोर दिखाई दे रहे हो? मुझे लगता है, भिक्षा तुमको सहन नहीं हो रही है। ठीक है, यह दो रुपये तुम रखो—मास्टर महाशय मुझे प्रतिमाह दूध पीने के लिए भेजते हैं। ये दो रुपये तुम लो। इससे आज से प्रतिदिन थोड़ा सा दूध पीना।" परन्तु वे स्वयं हो तो अत्यन्त कठोर तपस्या कर रहे हैं। उनसे रुपये लेने में बहुत खराब लग रहा था, किन्तु फिर माँ की बात याद आ गयी—"इच्छापूर्वक कठोरता करना नहीं।" अतः लेने के लिए बाध्य हुआ। उनका प्यार देखकर आँखों से अश्रु निकल आये।

मेरी तबीयत ठीक नहीं हुई बल्कि और भी खराब हो गयी। पेट में आँव (dysentry) का पता चला, भिक्षा मांगकर खाने के कारण आंव बढ़ती ही गयी। एक दिन हालत बहुत ख़राब हो गयी। उसी बगीचे के घर में अकेला पड़ा हुआ हूँ, पेट में कुछ भी नहीं है—लगातार पाखाना हो रहा है, अचानक आवाज हुई जैसे कोई आया हो। मेरे कमरे में उस घर के मालिक ने प्रवेश किया, वे एक महिला हैं, वर्षों बाद उसी दिन ही बगीचे के अपने उस घर को देखने के लिए आई है। मुझे उस हालत में देखकर वे सब समझ गईं, शायद उस व्यक्ति से भी मेरे बारे में सुनी थीं, जो इस घर की देखभाल करता है। तुरन्त ही उन्होंने मेरे लिए एक अच्छे कमरे की व्यवस्था करने के लिए कहा, और भात, सब्जी दूध आदि जैसे खाने की जरूरत हो, वैसी ही व्यवस्था करने के लिए कहा। इस बार भी मैं मना करने ही वाला था किन्तु माँ की बात याद करके सब कुछ मान लेना पड़ा। मन में आया माँ ही मानो स्वयं उनके माध्यम से आकर मेरे आहार एवं रहने की जगह की व्यवस्था करके चली गई हों।

कुछ दिनों में ही मैं स्वस्थ हो गया। इतने दिन बाद समझ पाया हूँ कि तपस्या करने के बदले मैं अभी दूसरे से सेवा ले रहा हूँ। इसी बीच सात-आठ महीने व्यतीत हो चुके हैं। अपनी थोड़ी बहुत जो चीज-वस्तु थी उसे बाँध-बूँध कर कुछ दिनों में ही मठ में वापस आ गया। पिता के समान उत्कंठा के साथ महाराज मेरा इंतजार कर रहे थे। मैं जाकर उनके चरणों पर गिर पड़ा। मठ छोड़कर तपस्या करने की कामना की यही इति है।

मठ में वापस आकर पुनः महाराज की सेवा में नियुक्त हो गया। महापुरुष महाराज, बाबूराम महाराज भी मेरी अपेक्षा कर रहे थे। उन लोगों का यह कैसा प्यार है वह कहकर समझाया नहीं जा सकता। माँ उस समय देश में (जयरामबाटी

में) हैं। अपना सब समाचार देते हुए मठ से मैंने माँ को चिट्ठी दी। तपस्या की आकांक्षा मिटी है एवं मठ में स्वस्थ शरीर में वापस हुआ हूँ जानकर खुश होकर माँ ने आशीर्वादी पत्र दिया था। उसमें उन्होंने लिखा था, "तपस्या तो बहुत करके आ गए बेटा, अब जी-जान से राखाल की सेवा में लग जा। राखाल की सेवा करने से ही तुम्हारा सब कुछ होगा। यह जान लेना उससे बढ़कर तपस्या और कुछ नहीं है।" उस समय जयरामबाटी से माँ के वापस आने पर उद्बोधन में जाकर माँ के चरणों के दर्शन कर आया। माँ ने खूब आशीर्वाद दिया था। उस समय दुर्गापूजा में माँ मठ में आई थीं एवं पूजा के कुछ दिन तक मठ में ही थीं। पूजा के समय बहुत तूफान एवं बरसात हुई थी, परन्तु जीवन्त दुर्गा की उपस्थिति से पूजा निर्विघ्न सम्पन्न हुई थी।

एक बार कालीघाट जाकर माँ काली के दर्शन करने की मेरी इच्छा हुई थी। बाबूराम महाराज को यह बात कहने पर उन्होंने कहा, "उद्बोधन में माँ से मिलकर जा।" मैंने उद्बोधन जाकर माँ से कहा, "माँ कालीघाट जाने की इच्छा थी बाबूराम महाराज ने कहा, "पहले माँ को देखकर जा।" यह सुनकर माँ थोड़ा हँसती है। माँ की हँसी के बीच मैंने जो देखा वह अभी भी आँखों के सामने तैरता है। वह क्या ही दिव्य रूप था वह समझाकर कह नहीं सकूँगा!

●

आदर्श जननी

—स्वामी असीमात्मानन्द
—रामकृष्ण मठ,
हैदराबाद

जब भगवान मानवजाति के उद्धार के लिये धराधाम में अवतरित होते हैं तब उनके साथ उनकी शक्ति का प्रायः आविर्भाव होता है, जो उनकी अभिन्न सहचरी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सीता, राधा यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि का इस जगत में आगमन हुआ। ये आदर्श नारियाँ एक ही दिव्यशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीचण्डी देवी कहती हैं—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति
तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम।

इस प्रकार जब भी दानवों के प्रादुर्भाव से विपत्ति आयेगी तब तब मैं अवतीर्ण होकर देव-शत्रु असुरों का विनाश करूँगी।

इस प्रकार अति प्राचीन काल से ही इस देश में काल की आवश्यकता के कारण इसी देवी को हम विविध रूपों एवं विविध भावों में पाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में भारतवर्ष की मातृजाति के प्रगतिपथ पर एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई थी। और उस समस्या के समाधान के लिए वर्तमान काल में वही दिव्य शक्ति माँ सारदा के रूप में आविर्भूत हुई जो भगवान श्री रामकृष्ण के दैवी कार्य को सम्पन्न कराने में सहायिका सिद्ध हुई। तभी तो श्री रामकृष्ण उनके सम्बन्ध में कहा करते थे, 'वह सारदा है, सरस्वती है, ज्ञान देने के लिए आयी है…वह मेरी शक्ति है।…पूज्यपाद स्वामी

विवेकानन्दजी ने उदात्त कण्ठ से हमारा आह्वान करते हुए कहा है—"जिस शक्ति के उन्मेषमात्र से दिग्दिगन्त व्यापिनी प्रतिध्वनि जागृत हुई है, कल्पना से उसकी पूर्णावस्था का अनुभव करो। और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दासजाति सुलभ ईर्ष्या-द्वेष त्याग करके इस महान युगचक्र के परिवर्त्तन में सहायता करो। सब में निहित ब्रह्मारूपिणी यह अदृश्य शक्ति इस काल में पुनः युगावतार भगवान श्री रामकृष्ण की सहधर्मिणी के रूप में अवतीर्ण होकर और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी महिमा का विस्तार कर और मानव समाज से अकल्याण को दूर कर उसने भावी भारत तथा समस्त विश्व को एक नव अभ्युदय के राजमार्ग पर ला दिया। तभी तो दोनों के कृपा-कटाक्ष से कृतार्थ हूँ।" स्वामी विवेकानन्द ने सविनय कहा है—"दास हूँ तुम दोनों का, करूँ प्रणाम सशक्ति तुम्हारे चरणों में।"

माताजी का स्वरूप विभिन्न भावों में प्रकट हुआ है—आदर्श जननी, आदर्श पत्नी, आदर्श संन्यासिनी और आदर्श गुरु आदि के रूपों में। यहाँ पर मैं उनके आदर्श जननी स्वरूप को प्रकट करने का प्रयास करूँगा। यह कार्य कठिन है, क्योंकि यह स्वरूप एक विशाल समुद्र है और मैं एक छोटे-से-छोटा वारि-बिंदु।

श्रीमाँ कोई निगूढ़ दर्शन अथवा जटिल मतवाद लेकर आविर्भूत नहीं हुई थीं, वे तो आयी थीं जीवमात्र की कल्याण विधायिनी जननी के रूप में। जननी के स्नेह की व्याख्या सन्तान के निकट करने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन माताजी का मातृस्नेह और इस संसार में दिखनेवाला मातृस्नेह इस में बहुत फर्क है। हम देखते हैं कि साधारण मातृत्व स्नेह, दया, प्यार आदि विडम्बित और नियन्त्रित है क्योंकि हम अपने आदमी, अपनी सन्तान को छोड़कर दूसरों का सुख-दुःख देखते नहीं। लेकिन श्रीमाँ का अपार स्नेह जाति-वर्ण, दोष-गुण सांसारिक अवस्था आदि के द्वारा नियन्त्रित नहीं होता था। जो उनके पास आ जाता, चाहे साधु हो या असाधु, पापी हो या तापी, सभी प्रकार के लोग इस प्रेममयी के पास एकबार आते और माताजी के अपार पवित्र प्रेम और निस्वार्थ प्यार में अपने को भूल जाते थे, माताजी बहुत लोगों की दोष दुर्बलता आदि को जानते हुए भी उसको स्नेह देतीं तथा उनके शोक दुःख में हार्दिक सहानभूति दिखातीं। उनके इस सच्चे मातृत्व के प्रभाव से दुश्चरित्रों में भी परिवर्त्तन आ जाता था, डाकू भी भक्त हो जाता था।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है :—जयराम-बाटी अर्थात् माताजी के जन्म स्थान के पास ही शिरोमणिपुर गाँव में बहुत से मुसलमान रहते थे। किसी समय वे लोग रेशम के कीड़े पालकर उससे अपना जीवन निर्वाह करते थे। पर विदेशी रेशम की होड़ में उनका रोजगार चौपट हो गया और विवश हो उन लोगों ने चोरी डकैती शुरू की। आस पास के गाँवों में भय उत्पन्न करने के कारण उन्हें "ताँतवाले डकैत" कहने लगे। जयरामबाटी में जब माताजी के लिए अलग मकान बन रहा था तब उधर अकाल चल रहा था। शिरोमणिपुर के कई अकाल पीड़ित मुसलमानों को साधुओं ने घर बनाने के काम में लगाया था। पहले तो इससे गाँववालों को बड़ा डर लगा पर बाद में उनका शान्त व्यवहार देख वे आपस में कहने लगे अरे माँ की कृपा से डकैत भी भक्त हो गये। इन लोगों के साथ श्रीमाँ कैसा व्यवहार करती थीं उसे समझाने के लिए दो-एक उदाहरण देंगे। कोई भी मनुष्य निर्दोष नहीं है, यह जानकर भी माँ सभी सन्तानों को समान रूप से देखती थीं।

एक दिन एक ताँतवाले मुसलमान ने कुछ

केले लाकर कहा "माँ ये ठाकुर के लिये लाया हूँ, आप इन्हें स्वीकार करेंगी क्या ?" माँ ने लेने के लिए हाथ पसार कर कहा, "जरूर लूँगी बेटा, दो, ठाकुर के लिए ले आये हो, अवश्य लूँगी।" माँ की एक स्त्री भक्त वहीं थी। वह पास के गाँव की थी। श्रीमाँ को वैसा करते देख उसने कहा, 'वे लोग चोर हैं, हम जानते हैं, उनकी लायी चीज ठाकुर को क्यों दें ?' माँ ने चुपचाप केलों को उठाकर रख दिया और उस मुसलमान को लायी हुई मिठाई देने को कहा। जब वह चला गया, तब श्रीमाँ ने उस भक्त स्त्री को डाँटते हुए गम्भीर भाव से कहा, "कौन अच्छा है—कौन बुरा, यह मैं जानती हूँ।" वे बुरे को ऊँचा उठाने में सचेष्ट रहती थीं। वे कहा करतीं, "मनुष्य में दोष तो रहते ही हैं। कैसे उसे अच्छा किया जाएगा, यह कितने लोग जानते हैं ?"

आदर्श मातृत्व के सामने सज्जन-दुर्जन का भेद नहीं था। मानो सभी उनके अपने बच्चे थे। अमजद की कथा प्रसिद्ध है। माँ का कितना प्यार है अमजद पर। अमजद मुसलमान है, चोर है, कई बार जेल खाने की हवा खाकर आया है। पातकी गांव के लोग उसकी छाया से भी दूर भागते हैं। इतना बुरा है वह सबकी आँखों में। पर अमजद के प्रति माँ के प्यार में कोई कमी नहीं। गांव वाले कहते हैं "माँ तुमने इन मुसलमानों को सिर पर चढ़ा दिया है।" तुम इन्हें काम देती हो, प्यार से इनसे बातें करती हो और इधर ये चोरी करते हैं, डाका डालते हैं।" माँ बोली, "देखो, तुम लोग तो इन्हें काम देते नहीं। इनके पेट में भी तो आग है, आग को कैसे भी तो बुझाना है। काम नहीं देंगे तो चोरी करके डाका डाल के अपने पेट की आग बुझाएँगे। लोग तो हरदम इनको दुरदुराते रहते हैं। मैं प्यार से बोलती हूँ तो मेरे पास आते हैं, इससे तुमको क्या ? और माँ के पास वे सब आते हैं, माँ उन्हें काम देती हैं। अमजद माँ के मकान के छप्पर की मरम्मत कर रहा है। समय हो गया है। माँ ने दो तीन बार पुकारा, "आओ बेटा, थोड़ा कुछ खा लो, फिर करना।" अमजद हाथ के काम निपटा देना चाहता है, कहता है, "बस अभी आया माँ" एकने अमजद से कहा, "कैसे हो ? माँ तुम्हारे लिए बिना खाये बैठी हैं ?"—विश्वास नहीं कर पा रहा था। ऐसा तो उसकी गर्भधारिणी माँ ने कभी नहीं किया। वह काम छोड़कर चटपट नीचे उतरा, माँ के पास जा शिकायत के स्वर में बोला, माँ, यह क्या ? तुम मेरे लिये बिना खाये बैठी हो। यह अन्याय है माँ।" माँ ने पुचकारते हुए कहा, अरे अगर घर में कोई सन्तान बिना भोजन किये रहे, तो माँ कैसे खा सकती है ? चलो हाथ मुँह धो लो और खाने बैठो।" अमजद आँगन में खाने बैठा। माँ की भतीजी नलिनी चीजें दूर से फेंक-फेंक कर अमजद की पत्तल पर परोसने लगी। माँ ने यह देख कहा, "अरे, इसप्रकार परोसने से क्या कोई पेट भर खा सकता है ? लो, तुझसे नहीं बनता तो मैं परोस देती हूँ।" और माँ अमजद के पास बैठ गयीं। पत्तल में प्यार से खाने की चीजें परोसते हुए बोलीं, 'बेटा थोड़ा भात और ले लो।' आज अमजद ने जी भरकर भोजन किया। जीवन में कभी उसे इतनी तृप्ति नहीं मिली थी। और जब वह पत्तल उठाने लगा तो माँ ने रोक दिया। कहा, "रहने दो, उसके लिये लोग हैं।" और लोग कौन थे भला ? वे तो स्वयं माँ ही थीं। उन्होंने जूठी पत्तल उठाकर फेंकी, जगह को साफ किया। नलिनी यह देखते ही चिल्ला उठी, "ओ बुआ, तुम्हारी जात गयी।" माँ बोली, चुप रह, जैसे शरत् मेरा बेटा है, वैसे ही अमजद भी।" कहाँ शरत महाराज, स्वामी सारदानन्द श्री रामकृष्ण के संन्यासी शिष्य, रामकृष्ण संघ के महासचिव, और कहाँ म्लेच्छ चोर जेल की हवा खाने वाला अमजद ! यही आदर्श

मातृत्व है। संन्यासी और गृहस्थ सभी के ऊपर माँ का समान रूप से ही प्रेम था। किसी प्रकार के लोगों के प्रति किसी प्रकार का भेद भरा आचरण नहीं था। ना ही प्रेम ममता में किसी प्रकार की कमी थी।

दक्षिणेश्वर की घटना है। माँ ठाकुर के भोजन की थाली सजाकर नौबतखाने से उनके कमरे में ले जा रही हैं। एक महिला ने बीच में माँ को रोक कर कहा, माँ थाली मुझे दे दो। मैं ठाकुर के कमरे में रख आती हूँ। माँ ने थाली दे दी, और वह उसे ठाकुर के कमरे रख आयी। माँ कुछ क्षण पश्चात् वहां गयीं। थाली में चीजें सजा दीं और ठाकुर से कहा, "आओ खा लो।' माँ ने देखा—ठाकुर रूठे बैठे हैं। दो तीन बार माँ ने पुकारा, पर ठाकुर उसी प्रकार बैठे रहे। आज क्या हो गया तुम्हें ? ऐसे मुँह फुलाकर क्यों बैठे हो ? आओ, भोजन ठण्डा हो जायगा।—माँ ने फिर कहा। "तुम जानती हो, वह औरत कैसी है ? वह दुराचारिणी है।"—ठाकुर बोले। 'हाँ जानती हूँ।'—माँ का उत्तर था। "जब तुम जानती हो कि मैं ऐसे लोगों का छुआ नहीं खा सकता, तो फिर उसके हाथ थाली भेजी क्यों ? तुम तो खाने को कहती हो, पर मेरी तो नजर ही उधर नहीं जा रही है।" ठाकुर ने आक्रोश व्यक्त किया।

माँ ने मनुहार के स्वर में कहा, "क्या करूँ, उसने थाली मांगी तो मैंने दे दी। अब और विलम्ब न करो, खा लो।" ठाकुर उठते हुए बोले, "अच्छा वचन दो, अब से तुम ऐसा नहीं करोगी।" इस पर मां ने हाथ जोड़ लिये और अनुनय के स्वर में बोलीं, "ठाकुर, ऐसा वचन नहीं दे सकती। अगर कोई 'माँ' कहकर मुझे पुकारे और मुझसे कुछ मांगे, तो मेरे लिये कुछ भी अदेय नहीं होगा। ठाकुर, तुम्हारे भोजन की थाली प्रतिदिन मैं स्वयं लाऊँगी, पर यदि कोई मुझे 'माँ' कहकर मुझसे थाली मांगे, तो मैं उसे 'ना' न कह सकूँगी ? तुम तो अकेले मेरे नहीं हो ठाकुर, तुम तो सभी के हो।" जग जननी श्रीमाँ की यह बात सुनकर स्वयं भगवान श्री रामकृष्ण प्रसन्न हो भोजन करने बैठे। श्रीमाँ की इस प्रकार की उदारता तथा सांसारिक सम्बन्ध रहित सेवा को समझना साधारण लोगों की शक्ति से बाहर की बात है। श्रीमाँ तो निःस्वार्थता की मूर्त्ति थीं और सर्वोपरि वे थीं सन्तानवत्सला करुणायी माँ। क्योंकि दुष्टों के स्पर्श से कष्ट होता है, यह जान कर भी माँ हो-कर वे सन्तान को कैसे लौटा सकती थीं ? क्या अद्भुत बात है ! यही आदर्श मातृत्व है। उसके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। आवश्यकता है केवल माँ कहकर पुकारने की। कहीं कोई भेदभाव नहीं। जिन्हें समाज 'अछूत' कहता रहा है, उन्हें भी मां की कृपा मिली।

'उद्‌बोधन' यानी मां के घर की बात है। एक १९-२० साल की लड़की सीढ़ी चढ़कर ऊपर गयी और दरवाजे के पास खड़ी होकर सिसकने लगी। मां भीतर थी। सिसकने की आवाज उनके कानों में गयी। मां वहीं से बोली, "कौन हो बेटी ? क्यों रो रही हो ? भीतर आ जाओ।" मां का प्यार भरा शब्द सुनकर लड़की का रोना और बढ़ गया। वह रोते-रोते कहने लगी, 'नहीं मां, तुम मेरी बात सुनोगी तो तुम मुझे अन्दर नहीं आने दोगी, जैसे मेरी अपनी मां ने नहीं आने दिया। मैं पतिता हूँ, गिर पड़ी हूँ, घर वालों ने मुझे निकाल दिया है।" और ऐसा कह वह और भी जोरों से रोने लगी। तब मां सारा काम छोड़कर बाहर आयी। लड़की को अपनी छाती से लगा लिया और अपनी भुजाओं में भरकर उसे भीतर ले जाते हुए बोलीं, "देखो यदि सन्तान कीचड़ में गिरकर अपने को सान ले तो क्या मां उसे फेंक देती है ? नहीं उसे

गोद में उठाती है, साफ करती है। ठीक है, तुम फिसल गयी हो, पर यह जो तुम्हें अनुताप हो रहा है, उसी से होगा। मैं तो तुम्हारी मां हूँ।" क्या यह विलक्षण आदर्श मातृत्व नहीं है ? यों केवल मनुष्यों के प्रति ही मां की ममता नहीं थी, दूसरे जीवों के प्रति पशु-पक्षी पर भी श्रीमां के अनुपम मातृत्व का परिचय पाते हैं—जैसे अपनी ही मां हो।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है। एक दिन एक छोटा बछड़ा व्याकुल होकर डकार रहा था। बछड़े के डकारने से उस दिन सभी लोग चिन्तित हुए और इलाज का उपाय ढूढ़ने लगे पर कुछ फल न हुआ। श्रीमां भी बछड़े की 'आवाज सुनकर उसके पास आ गई उसका कष्ट देखकर वे उससे चिपट गयीं और बांये हाथ से उसकी नाभि और पेट को दबाने लगीं। मानों अपनी सन्तान हों। कुछ ही देर में बछड़ा शान्त हुआ, और सब लोग निश्चिन्त हो कर घर लौटे।

जब हृदय में प्यार होता है, तो कोई भाषा आवश्यक नहीं होती, जब मां और नन्हा शिशु एक दूसरे से बातें करते हैं, तो क्या वह संवाद भाषा के द्वारा होता है ? नहीं, हृदय से बोलता है। यह तो आत्मा से आत्मा के बोलने की बात है। सच्चे प्यार को रोकने की शक्ति किसी में नहीं होती। प्यार, करुणा और क्षमा ये सभी एक साथ चलतीं हैं। श्रीमां इन तीनों का मूर्त्तिस्वरूप थीं। उनका चरित्र विविध क्षेत्रों में सामाजिक सेवा करने वालों को सतत प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके जीवन और उपदेशों में समस्त आत्मिक संशयों को दूर कर "परम सत्य" तक पहुँचाने की क्षमता है।

आजकल बहुमुखी समस्याएँ दिखाई दे रही हैं, उनमें सबसे बड़ी समस्या है—यही सच्चे प्यार का अभाव। यह समस्या दिनों दिन इस संसार को शुष्क कर रही है, मनुष्य के मनुष्यत्व को खत्म कर रही है। स्वार्थ के बिना कोई किसी का मुख भी नहीं देखता है। श्रीमां कोई पढ़ी लिखी महिला नहीं थीं। वे प्राय: निरक्षर थीं, लेकिन श्रीमाँ में मातृत्व या नारित्व का बहुत विकास हुआ था, उसके लिए ऊँची डिग्री का प्रयोजन नहीं था। जहाँ मनुष्यत्व, न्याय, नीति: सदाचारण, विनय, एवं क्षमा का आदर्श नहीं है वहां पर विश्वविद्यालय की उपाधि मनुष्य को मनुष्यत्व अर्थात् महानता नहीं दे सकती है। श्रीमां सारदा देवी सबका आदर्श थी। आइए, हम सब इस समस्या के समाधान के लिए सच्चे प्यार में भरी माताजी का जीवन और इनकी वाणी पढ़ें और जीवन में उसे प्रतिफलित करें।

अब यह संसार की नारियों का धर्म है कि वे उनके पद चिह्नों का अनुसरण करके अपने को उनके जीवन के अनुरूप ढालने का प्रयास करें।

♣

दुनिया को मुझे बस इतना ही बताना है—बलवान बनो।

शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है—अपने को शान्त रखना और स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना।

समग्र जीवन का एकमेव उद्देश्य है—शिक्षा।

सारी शिक्षा का ध्येय है—मनुष्य का विकास।

—स्वामी विवेकानन्द

"माँ ही द्वार हैं"

—मोहनसिंह मनराल
सुरईखेत, अल्मोड़ा, उ० प्र०

इस असार संसार में भटकाव की आँधी में भटकते जीवों के लिये श्रीरामकृष्ण भावधारा एक आशा है, एक सम्बल है और है एक विश्वास। एक ऐसा विश्वास जो उसे जीवन के मरुस्थल में सन्तप्त होकर भी शीतलता व शान्ति प्रदान करती है। जो उसे जीने का एक नया अर्थ प्रदान करती है। हजारों झंझावातों के मध्य भी वह अपनी जीवन नौका को सन्तुलन के साथ खेने में सफल होता है। मगर ऐसे कितने भाग्यवान होते हैं जिनके जीवन में यह अवसर आता है? निश्चय ही अति अल्प। अधिकांश तो इस क्षणभंगुर जग के लुभावने पन में खोकर एक जीवन चक्र की परम्परा ही पूरी करते नजर आते हैं। मगर जिनके भीतर आत्मनिरीक्षण की प्रवृति जन्म ले पाती है, जो किसी तरह साहस करके निकल जाते हैं, जो किसी कृपा के सुयोग से कुछ अवसर पा जाते हैं वे इस भावधारा के निकट आ पाते हैं। आकर भी एकदम संशय दूर हो जाता है ऐसी बात नहीं। खानदानी किसान की तरह लगे रहने पर भी उनके मन में अवश्य ऐसा प्रश्न उठता है और यह उठना अनिवार्य भी है कि मेरा क्या हुआ? कितना हुआ? निश्चय ही वह स्वयं को धोखा नहीं दे सकता है अतः उसे अपनी दुर्बलताओं को स्वीकारना पड़ता है।

आत्मनिरीक्षण की इस प्रक्रिया में एक हताशा आकर व्यक्ति को घेर लेती है। उसे लगता है कि पर्याप्त उछल-कूद व संघर्ष के बाद भी वह अपनी दुर्बलताओं से उबर नहीं सका है। समुद्र में लहरों के समान इनका प्रवाह अविरल है। तब वह देखता है वह त्याग व पवित्रता, वह साधना उसके लिये चीटीं द्वारा पर्वत को चूर करने के समान है जो उसके प्रेरणास्रोत कृपानिधान श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी जी द्वारा प्रदर्शित की गई है। उसके लिये यह सारा लक्ष्य छूना एक असंभव सी बात हो जाता है। वह कुछ निश्चय नहीं कर पाता है मगर उसका संघर्ष जारी रहता है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं, वे त्रिकालदर्शी हैं अतः वे जीवों की इस दुर्बल दशा से अवगत थे और अवगत हैं अतः उन्होंने इसका समाधान अपनी लीला में किया है। अब हम उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। दीनबन्धु ठाकुर जीवों की असहाय व दुर्लल दशा से अवगत थे अतः उन्होंने अपनी शक्ति के रूप में श्री माँ को जीवों के लिए एक आशा, एक विश्वास, एक सम्बल और एक द्वार के रूप में लाकर खड़ा किया है। एक ऐसा आश्रय, एक ऐसा द्वार जहाँ सबको प्रवेश मिला है। उनकी सृष्टि के प्रत्येक कतरे को प्रवेश मिला है और मिल रहा है। यही तो श्रीरामकृष्ण अवतार की विश्व को सबसे बड़ी देन है। विशेष कर उन असहाय दीन-हीन जनों के लिये जिनके लिये धर्म व ईश्वर कृपा की सबसे अधिक आवश्यकता है। जो पवित्र हैं या ईश्वर कृपा व सुयोग से सत्मार्ग में लग चुके हैं उनके लिये तो इस मार्ग में प्रवेश है ही मगर सबसे बड़ी आवश्यकता तो उनके लिये है जिनकी मोह निद्रा कभी टूटने का नाम ही नहीं लेती।

यदि धर्म की आवश्यकता है, यदि करुणा व दया की आवश्यकता है, यदि सहायता की आवश्यकता है तो ऐसे जीवों को है। कौन उन्हें प्रकाश देगा ? अंधेरे में बिलबिला रहे लोगों को प्रकाश देने के लिये ही श्री श्रीमाँ का पवित्र आगमन हुआ यह। श्रीरामकृष्ण का उनसे आग्रह था और इस आग्रह को उन्होंने स्वीकार किया है। वे एक प्रश्न के उत्तर में कहती हैं कि श्रीरामकृष्ण देव ने तो ठोक-बजाकर शिष्य बनाये मगर उनके पास तो चींटियों की जमात ही ठेल दी है। जो भी उन्हें माँ कहकर पुकारता है, जो भी उनके आगे अपना हृदय पट खोल देता है, जो अपनी अहंता एवं दुर्बलता को स्वीकार कर उनके शरणागत होता है वह उसे स्वीकार किये बिना नहीं रहती हैं। वह कहती हैं उनके पास आकर जो जितने के लायक नहीं है उससे कहीं अधिक पा जाता है।

मात्र वे ही इसमें सक्षम हैं अन्य कोई नहीं। श्रीरामकृष्ण व श्री स्वामी जी के समान उन्हें पकड़ना भी अत्यन्त कठिन है बरन और भी कठिन क्योंकि वे पवित्रता-स्वरूपिणी जो हैं मगर एक ऐसा बिन्दु है जहाँ वे स्वयं असमर्थ हो जाती हैं वही उनकी महानता व दुर्बलता दोनों एक साथ प्रकट करता है और जीवों के लिये वही है एक द्वार। वह है उनका माँ होना। सत् की भी माँ असत् की भी माँ। जड़ की भी माँ चेतन की भी माँ। मनुष्यों की भी माँ पशु-पक्षियों की भी माँ। धर्मात्मा व पवित्र जन की भी माँ और पापी-तापी तथा संसार में फँसे जीवों की भी माँ। यही तो उनकी महानता है और यही दुर्बलता भी क्योंकि माँ के लिये कोई त्याज्य नहीं न ही किसी को जन्म जन्मान्तर तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता। उनकी कृपा से जो अपनी असहाय अवस्था को जान सकी वही उनके आये वह प्रार्थना करने में सफल हुआ जिसे सुनकर माँ अधिक चुप नहीं रह सकेंगी। वह अवश्य ही उसका हाथ थाम लेगी। दया का द्वार खोल देगी।

अतः ऐसी करुणामयी, दयामयी का चिन्तन, मनन, स्मरण व ध्यान ही साधना है। ऐसी करुणामई ज्ञानदायिनी जननी को बारम्बार प्रणाम ही अराधना है। न मंत्र, न तंत्र, न व्रत न उपवास, न तीर्थ न अनुष्ठान केवल माँ सदा मेरे पीछे हैं यह अहसास, मैं उनकी कृपा से सदा निर्भय हूँ यह विश्वास ही एकमात्र भाव है जो जीवन की तमाम दुरुहता के मध्य उनकी कृपा से जोड़ता है। ऐसा शरणागत पुत्र सारे शोक-ताप, भय व अनुराग के मध्य माँ की स्मृति तो नहीं छोड़ता है। और ऐसे अनुरागी जन का हृदय सदा यही पुकारता है—माँ खोलो द्वार। तुम्हारी माया तुम ही जानो, मैं शरणागत हूँ खोलो द्वार। और द्वार खुल जाता। जीवन भर स्वयं से संघर्ष करने वाला अन्त में समझता है वही अपने बन्धन व मुक्ति दोनों का हेतु था बस उसके नेत्रों के आगे से आवरण हटने मात्र की देर थी और माँ की कृपा से वह आवरण हट गया। जय माँ ! तुम्हारी कृपा से वह द्वार उन्मुक्त हो गया ! जय माँ !

प्रश्न : मुझ पर ईश्वर की कृपा कब होगी ?

उत्तर : ऐसा कोई नियम नहीं है कि अगर कोई तपस्या कर रहा है तो उस पर ईश्वर की कृपा होगी ही। प्राचीन काल में ऋषियों ने हजारों वर्ष तक शीर्षासन करते हुए धूनी जला कर तपस्या की थी। इतना होते हुए भी उनमें से कुछ को ही ईश्वर की कृपा प्राप्त हुई।

—श्रीमाँ सारदादेवी

स्वामी विवेकानन्द

—आचार्य डा० उमेशचन्द्र मधुकर

वह देवपुरुष या राजपुरुष जो चमका देश-विदेशों में,
या पुरुष-सिंह जो वेदान्ती बन गरजा गैरिक वेशों में।
वाणी का वरद सुपुत्र ओज जिसके चरणों में लुंठित था,
जिसके समक्ष पाश्चात्य बुद्धि का वैभव मूर्च्छित कुंठित था।

वह कौन कि जिसने रामकृष्ण - से परमहंस को गुरु माना,
उनके चरणों में नत होकर जिसने प्रभु-प्रभुता को जाना।
जिसने धर्मान्ध जगत को फिर से आँखों का वरदान दिया,
ऋषिमुनि प्रतिपादित दर्शन को जिसने फिर से सम्मान दिया।

जिसने वह क्रान्ति जगायी थी दुनिया के कोने-कोने में,
जिससे वे भी न वचे जिनका सबकुछ था चाँदी-सोने में।
जिसके उद्‌घोषों की प्रतिध्वनि होती थी बड़े पहाड़ों से,
सागर की उठी तरंगों से, वन के झाड़ों-झंखाड़ों से।

वह जगत्राता, तो तुम नरेन्द्र धनधाम छोड़ सानन्द चले,
परमार्थ, प्रेम, सेवा के स्वामी बने विवेकानन्द चले।
तुमसे जव पूछा जाता था—स्वामीजी कहो धर्म क्या है,
वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों का वतला दो ठीक मर्म क्या है।

तुम हँसते, कहते—तन से, मन से सभी लोग बलवान बनें,
श्रद्धा विश्वास प्रतीक वनें, सव उच्च गुणों की खान बनें।
प्राचीन धर्म कहते थे—ईश्वर को नकारना नास्तिकता,
लेकिन आत्मा है परमात्मा, मानना आज है आस्तिकता।

वाधा है एक कि निर्वल तनमन वाले मान नहीं सकते,
आत्मा है कहाँ और कैसी वे कुछ भी जान नहीं सकते,।
सम्पूर्ण जगत के कण-कण में है एक ब्रह्म ही रमा हुआ,
उन सबके भीतर आत्माओं के रूपों में वह जमा हुआ।

इसलिए जगत के कण-कण से जव सच्चा प्रेम किया जाता,
तव आत्मा परमात्मा सव मिलते, धर्म यही है वतलाता।
जव लोग पूछते—अपने को बलवान बनावें कैसे हम,
हम तो दरिद्र हैं, बल के उतने साज सजावें कैसे हम।

तब तुम हँसते—बल को पाने को राज राजाना क्या होता,
सात्विक भोजन में, करारत में यह माल जुटाना क्या होता।
भोजन हो शुद्ध, भले कम ही हो, उसे बाँट कर ही खाओ,
तन, मन दोनों से काम करो, सबको सुख देकर सुख पाओ।

इसके ऊपर भी एक बात—निर्बल मन को बलवान करो,
सत्पथ पर हो निर्भीक चलो उस पर ही चाहे जियो मरो।
बाहरी प्रकृति पर विजय जगत में अंतिम उच्च प्रयास नहीं,
भीतरी प्रकृति मन बुद्धि आदि जल्दी हारें—विश्वास नहीं।

ये चाँद सितारे मनुजों दनुजों से भी हारा करते हैं,
भीतरी प्रकृति पर विजयी को भगवान दुलारा करते हैं।
तुम कहते थे—अवतारों, संतों को आदर्श समझना है,
उनके बतलाए पथ पर चलने को उत्कर्ष समझना है।

आदर्श लक्ष्य का पथिक चलेगा सीधा, कभी न अटकेगा;
आदर्श लक्ष्य से हीन पथिक तो भटकेगा, सर पटकेगा।
तुम कहते जो अपढ़ों, भूखों, नंगों को लख चुप रहता है,
वह एक देशद्रोही है, नरकों के नालों में बहता है।

द्रवता न हृदय उनपर जिसका वह तो प्रत्यक्ष दुरात्मा है,
जो दिन दुःखी की सेवा करता सच्चा वही महात्मा है।
जग में जीवन विस्तारमात्र, संकोच मृत्यु से कम क्या है,
है स्वार्थ परम संकोच, प्रेम जैसा विस्तृत अनुपम क्या है।

अतएव जगत के जीवन में कानून प्रेम है, अन्य नहीं,
जो जन-जन का प्रेमी न हुआ तो उसका जीवन धन्य नहीं।
तुम छुआ-छूत का भूत भगाने को कहते ही रहते थे,
इसके कारण स्वार्थान्ध दलों से निन्दा भी तुम सहते थे।

तुम सदा मानते—चर्मकार यदि जूते ठीक बनाता हो,
वह उस ब्राह्मण से अच्छा है यदि वह भ्रम ही फैलाता हो।
रख हृदय स्वच्छ सब की सेवा में लगे रहो बस यही धर्म,
वेदों शास्त्रों से विहित सभी उपदेशों का है यही मर्म।

मस्तिष्क विजेता नहीं जगत में, परमविजेता हृदय यहाँ,
मस्तिष्क सृष्टि भी करता लेकिन बहुधा करता प्रलय यहां।
लेकिन यदि हृदय प्रेमपरिपूरित हो तो भाग्योदय होता,
तब भेदभाव अज्ञान तिमिर का नाशक सूर्योदय होता।

तुम कहते—त्यागी दानी नरपुंगव होता,
उच्चातिउच्च भी प्रेम उसे संभव होता।
तुम त्यागी बन सर्वस्वदान भी करो सही,
गड़बड़ होगा यदि प्रतिदानों की बात कही।

धनधान्य पूर्ण सम्पत्ति, प्रेम भी दे डालो,
बदले में कुछ पाने की आशा मत पालो।
यदि जग पर तुम यों कृपा करो प्रतिदान रहित,
तब प्रभु तुमको अपनाएँगे सम्मान सहित।

तुमने भारत की परम्पराएँ जानीं,
उत्थान-पतन की सभी कथाएँ जानीं।
तुमने पूरब-पश्चिम देखे जा-जाकर,
देखा वे क्या हैं क्या खोकर, क्या पाकर।

देखा भारत में वन प्रान्तर सुन्दर हैं,
सुन्दर पहाड़ नद-नदी और निर्झर हैं।
सुन्दर महलों की भी तो कमी नहीं है,
मीनार गगन को छूती कहीं-कहीं है।

लेकिन उनके ही निकट खड़ी झोपड़ियाँ,
आरामबाग के पास पड़ीं खोपड़ियाँ।
हीरे मोती से लदी नारियाँ भी हैं,
रोती विधवाएँ, पड़ी क्वारियाँ भी हैं।

घोड़े कुत्ते महँगे खाने खाते हैं,
लेकिन भूखे भी बहुत जिये जाते हैं।
इन भूखों में ही धर्म यहाँ जीवित है,
मानवता का गुण आज यहीं संचित है।

लक्ष्मी के भी लाड़ले यहाँ कुछ हैं ही
सोने हीरे पर पले यहाँ कुछ हैं ही।
उनका कोई होता ईमान नहीं है,
होता न धर्म, होता भगवान नहीं है।

तुम कहते पूरब के अमीर घातक हैं,
लेकिन पश्चिम के घोर महापातक हैं।
ऐसे पूरबवाले हैं निजकुल घालक,
पच्छिमवाले तो सकल सृष्टि संहारक।

जब प्रश्न उठा क्या भक्ति, बता दो स्वामी,
तुम योग ज्ञान सबके व्याख्याता नामी।
तुम कहते—भक्ति महान् प्रेम है भाई,
यह योग ज्ञान से बड़ा नेम है भाई।

जो प्रभु को अपना हृदय दान देता है,
बदले में प्रभु से कभी न कुछ लेता है।
जिसका है प्रेम अनन्य जगत में ऐसा,
स्वाती जल से चातक का होता जैसा।

ऐसे प्रेमी को भक्ति प्राप्त होती है,
उससे ही जग को शक्ति प्राप्त होती है।
यह प्रेमशक्ति ही भक्ति कही जाती है,
जो निर्गुण को भी सगुण बना पाती है।

तब निराकार साकार बना फिरता है,
येह निर्विकार भी प्यार बना फिरता है।
हम भक्त तुम्हारे पीड़ित हैं।
सारी जनता चीत्कार रही।
श्री रामकृष्ण को और तुम्हें,
यह धरती पुनः पुकार रही।

स्वामी जी की बातें

—स्वामी निर्वाणानन्द

[बंगला मासिक 'उद्बोधन' के माघ १४०२ संख्या १ (जनवरी, १९९६) अंक में प्रकाशित संस्मरण का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं— रामकृष्ण मिशन, नरोत्तम नगर में कार्यरत स्वामी चिरन्तनान्द]

श्रीरामकृष्ण के प्रत्येक शिष्य कितने बड़े-बड़े आधार स्तंभ थे ! किन्तु अपने शिष्यों के बीच एक मात्र स्वामीजी को छोड़कर वे अन्य सभी को भक्ति मार्ग का उपदेश देते। स्वामीजी को अद्वैत-शिक्षा देते। परन्तु स्वामीजी को मात्र अद्वैत-शिक्षा ही देते थे, ऐसी बात नहीं, बाद में लीला भी उनसे मनवा ली थी। मात्र ध्यान-भजन वे ही कर सकते हैं जो जीवनमुक्त हैं, साधारण जन के लिए यह संभव नहीं ऐसा जानकर स्वामीजी ने सेवा-कार्य का प्रचलन किया था। स्वामीजी कहते, "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।" परन्तु किसी शुभ कार्य में यदि वह शरीर भी त्याग करना पड़े तो वह भी करना होगा।

स्वामीजी सन् १८९७ में (२० फरवरी) अमेरिका से वापस आ गए। आकर विदेश में पाये अपने सब रुपये महाराज को दे दिए। इसके बाद ही विश्राम के लिए वे दार्जिलिंग चले गए (मार्च १८९७ में)। साथ में थे गिरीश बाबू, महाराज, सारदा महाराज। उनके वापस आने के बाद बलराम मंदिर में रामकृष्ण मिशन प्रतिष्ठा की प्रथम सभा आयोजित हुई मई १ तारीख को। स्वामीजी प्रेसिडेंट, महाराज President of Calcutta Centre, और आलमबाजार मठ के उपाध्यक्ष) हुए हरि महाराज एवं योगेन महाराज। इसके बाद मठ की ये जमीन खरीदी गयी (५ मार्च १८९८ में)। प्राय: ४०,००० रुपये में १८ बीघा जमीन। राजा महाराज के पत्र में "प्राय: २० बीघा" त्रिगुणातीतानन्द जी के पत्र में "१८ बीघा" जमीन का उल्लेख है। खरीद-मूल्य दोनों पत्रों में ४०,००० रु० एवं बाबूराम महाराज के पत्र में ३९,००० रु० लिखा हुआ है। परन्तु ट्रस्ट डीड के अनुसार जमीन की माप थी २२ बीघा। जी० टी० रोड उस समय सुनसान रास्ता था, जंगल से परिपूर्ण एवं डाकुओं का स्थान। स्वामीजी द्वितीय बार विदेश जाने के समय (२० जून १८९९ में) एक वसीयत कर गये। मठ की स्थायी, अस्थायी सारी सम्पत्ति महाराज को दे गये। किन्तु महाराज ने ट्रस्ट बनाने के लिए कहा। महाराज ने ही ट्रस्ट बनाकर स्वामीजी के पास पेरिस भेजा। पेरिस में ब्रिटिश कौन्सिल के सामने बैठकर स्वामीजी ने उस पर अपना हस्ताक्षर करके मठ में भेजा था। निवेदिता को उन्होंने लिखा था, आज से अपना सब कुछ राखाल के ऊपर छोड़ दिया है। उन्होंने शरत् महाराज को मठ का महासचिव किया और महाराज को अध्यक्ष।

जिस दिन स्वामीजी ने आत्माराम का कलश लाकर मठ में रखा, उस दिन स्वयं अपने हाथ से खीर बनाकर उन्होने ठाकुर को भोग दिया। बाद में ठाकुर से कहा, "बोलो तुम यहाँ रहोगे।" ठाकुर ने कहा, 'रहूँगा।' फिर कहा, "बोलो, जीवकल्याण के लिए तुम यहां पर रहोगे।" ठाकुर

ने कहा, 'रहूँगा।' उसके बाद स्वामीजी का वह कैसा रुदन था ! अश्रुपात से जमीन भींग गयी।

महाराज एवं स्वामीजी के बीच जो अकृत्रिम एवं अपार्थिव स्नेह था वह इस घटना से समझ में आएगा।

वे सब (स्वामीजी के गुरुभाई सब) संसार त्याग कर बारानगर मठ में हैं। सभी ने अपने-अपने घर से सम्बन्ध तोड़ दिया है। परन्तु स्वामीजी की बात भिन्न थी। वे संसार त्याग कर भी कभी-कभी घर में विधवा माँ एवं छोटे-छोटे भाई-बहनों को देखने जाते। पिता (विश्वनाथ दत्त) के देहत्याग के बाद उन लोगों को अत्यन्त सांसारिक कष्ट उठाना पड़ा था, उसमें फिर उनके सगे-संबंधीगण उनकी सम्पत्ति, रहने का घर हड़प लेने की नीयत से अदालत में केस शुरू कर दिया। फलत: इस अवस्था में केस देखने-सुनने के लिए उन्हें बीच-बीच में अदालत भी जाना पड़ता। स्वामीजी के उस समय के अन्तर की भावना कौन समझेगा ? स्वामीजी के साथ महाराज के अंतर का एक अद्‌भुत सामंजस्य था। वे किसी भी समय स्वामीजी के पास आकर खड़े रह सकते थे उनकी सहायता के लिए। घर में देखभाल करने वाला कोई नहीं हैं। ऐसी अवस्था में उन लोगों के लिए कुछ व्यवस्था न होने तक स्वामीजी निश्चिंत नहीं हो पा रहे थे। इतनी देखरेख करने के बाद भी वे निचली अदालत में हार गये। हाईकोर्ट में अपील करने के लिए समय नहीं है। मकान दखल करने के लिए सगे-सम्बन्धी जोड़-तोड़ कर रहे हैं। क्या उपाय किया जाय ! महाराज ऐसे समय में भी स्वामीजी के पास आ खड़े हुए। महाराज है जमींदार के पुत्र, वे जानते हैं, किस तरह सम्पत्ति की रक्षा करनी होती है। उन्होंने अभय देकर कहा, जैसे भी हो एक दिन के लिए मकान की रक्षा करूँगा ही।

वैसा किया भी। किशोर अवस्था में स्वामीजी एवं महाराज दोनों ही एक आखाड़े में कुस्ती करते, और भी अनेक लोग करते, वे सभी समान उम्र के एवं आपस में विशेष परिचित थे। इधर उनके सगे-संबंधी स्मीजी के घर दखल करने के लिए बहुत लोगों को लेकर आएँगे ऐसा सुना गया। निर्दिष्ट दिन को देखा गया कि अखाड़े के सभी कुश्तीबाज स्वामीजी के घर में हैं। उन लोगों को देखकर किसी ने भी घर दखल करने का साहस नहीं किया। दूसरे दिन स्वामीजी ने हाईकोर्ट में अपील कर घटना की आपातत: निष्पति की। स्वामीजी की अनुपस्थिति में एवं अविद्यमान में महाराज स्वामीजी की माँ एवं भाई-बहनों की खोज खबर लेते। अंत में मुकदमे में स्वामीजी की जीत हुई थी। सोच नहीं सकते कि दोनों के बीच कैसा अद्‌भुत प्यार, स्नेह एवं संवेदनशीलता, विचार-धारणा थी ! एक तरफ संसार त्यागकर विषय को विषवत् अनुभव करना एवं दूसरी तरफ स्वेच्छा से प्राणाधिक प्रिय नेता के लिए जिस किसी भी अवस्था में सम्मुखीन होना ! यह क्या सहज है ?

और एक दिन की घटना है। स्वामीजी का जिस परिचारिका ने लालन-पालन किया था, वह अचानक दोपहर में बलराम मंदिर में आकर हाजिर होती है। महाराज अभी जो गर्भ मन्दिर है उसके बरामदे में बेंच पर बैठे हुए हैं। स्वामीजी कमरे में विश्राम कर रहे हैं। इसलिए महाराज ने उन्हें वापस भेज दिया। विश्राम के बाद जब स्वामीजी ने सुना कि उनकी परिचारिका वापस चली गई, तब तीव्र तिरस्कार करते हुए महाराज से कहा, "हो सकता है माँ ने किसी विशेष प्रयोजनवश उन्हें भेजा था। तुमने मुझे न बुलाकर क्यों उन्हें वापस भेज दिया ?"—इत्यादि। महाराज ने सब कुछ चुपचाप सहन कर लिया। जो हो, असंख्य शब्दबाण निक्षेप कर

स्वामीजी तुरन्त ही किराए की गाड़ी लेकर मां के पास उपस्थित होते हैं। जब सुनते हैं कि मां के किसी काम के लिए वह नहीं गई थी, वह सिद्धेश्वरी कालीवाड़ी में गई थी और पास में ही उसका नरेन रहता है इसलिए देखने चली गई थी। स्वामीजी तब और स्थिर न रह सके, अधीर होकर सोचने लगे—ओ हो बिना कारण राखाल को इतना कष्ट दिया। मां से कहा, मां राखाल को गाड़ी से ले आने के लिए व्यवस्था करो। मैंने बिना जाने राखाल को बहुत कष्ट दिया है! महाराज को वहां लाया गया। स्वामीजी महाराज को आलिंगनबद्ध कर अश्रुविसर्जन करते-करते अपने द्वारा की गई भूल के लिए कितना अनुनय करने लगे और स्वयं को धिक्कारने लगे। महाराज की आंखों से अश्रु झरने लगे। अन्त में स्वामीजी की मां ने दोनों को सान्त्वना देकर स्वाभाविक अवस्था में लाया। सांसारिक कोई भी संबंध ऐसी प्रीति उपजाने में अक्षम है। ठाकुर को केन्द्र में रखकर ही उन लोगों का ये अलौकिक प्रेम है।

महाराज ने कितनी बार हमलोगों से कहा है, "स्वामीजी साक्षात शिव हैं, उनको गुस्सा दिलाने से फिर बचने का उपाय नहीं।" और स्वामीजी महाराज को किस दृष्टि से देखते, वह भी हम लोगों ने उनके गुरुभाइयों से सुना है। वे कहते, "राजा मेरे माथे की मणि है। राजा मेरा प्राण है।" गुरुभाइयों के बीच स्वामीजी एकमात्र राजा महाराज को ही चिट्ठी में 'अभिन्नहृदयेषु' एवं 'प्रियतमेषु' कहकर संबोधन करते। प्राणाधिकेषु' संबोधन भी उन्हें करते किन्तु यह संबोधन गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) को लिखे उनके दो-तीन पत्रों में भी देखा गया है। जो हो, स्वामीजी एवं महाराज एक-दूसरे को किस दृष्टि से देखते थे इसका हम किंचित अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। उनकी जीवन-वीणा किस सुर में बँधी हुई थी यह तो वे ही जानते थे, साधारण लोग उनके सम्बन्ध को क्या समझेंगे ? मात्र उन दोनों के बीच ही नहीं, दूसरे गुरुभाइयों के साथ भी स्वामीजी का गहन प्रेम था एवं इस प्रेम के मूल में थे ठाकुर।

तीसरे दशक में हमारे न्यूयार्क रामकृष्ण विवेकानन्द सेन्टर के स्वामी निखिलानन्द जहाज से कहीं जा रहे थे। एक दिन एक व्यक्ति ने आकर उनसे कहा, इस जहाज में फ्रांस के एक ड्यूक जा रहे हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं। ड्यूक (उस समय उनकी उम्र साठ वर्ष एवं निखिलानन्द की प्रायः चालीस वर्ष) ने उनको सन् १६०० ई० में पेरिस में स्वामी विवेकानन्द के साथ अपने साक्षात्कार के प्रसंग को बताया। ड्यूक ने निखिलानन्द से पूछा कि स्वामीजी ने उसको जो देना चाहा था वह क्या वे दे सकते हैं ? निखिलानन्द ने कहा, "स्वामी विवेकानन्द आपको जो दे सकते थे वह देने की क्षमता मुझमें नहीं है। और फिर 'Opportunity comes but once'—सुयोग जीवन में बारबार नहीं आता। आपने सुयोग पाया था, किन्तु उसे खो दिया।" बातचीत करते-करते स्वामी निखिलानन्न ने ड्यूक से पूछा था, स्वामीजी ने उनको क्या देना चाहा था ? ड्यूक ने कहा, "स्वामीजी ने कहा था, 'तुम मेरे साथ मेरे देश में चलोगे ?" मैंने उत्तर में कहा था, 'उस देश में जाने से मुझे क्या मिलेगा ? स्वामीजी ने कहा था, 'मैं तुमको शिक्षा दूँगा कि किस प्रकार मृत्यु के आमने-सामने हुआ जाता है।' मैंने कहा, 'नहीं स्वामीजी, मेरे सामने मेरा उज्ज्वल भविष्य है, मेरा सम्पूर्ण जीवन है। मैं मृत्यु के साथ आमना-सामना होने की शिक्षा लेने आपके देश में क्यों जाऊँ ?' कई साल बाद एकबार जीवन-मरण के संधिक्षण में

आ पड़ा था, मैं मरने वाला था उस समय स्वामीजी की बातें मेरे मन में आयी थी। उस समय से ही उनको खोज रहा हूँ। यदि वे अथवा अन्य कोई मुझे वह शिक्षा दे सके।"

[साधु एवं भक्तों के साथ विभिन्न समय में पूज्य महाराज के कथोपकथन का संकलन ।]

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ

—स्वामी सदाशिवानन्द

[रेमिनिसेन्सेज ऑफ स्वामी विवेकानन्द, वाई हिज ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपिल्स' पुस्तक के अन्तिम अध्याय का अनुवाद। अनुवादक हैं, आकाशवाणी, वाराणसी केन्द्र के हिन्दी अनुवादक श्री रामकुमार गौड़—सं]

स्वामी विवेकानन्द का पवित्र नाम मैंने अपने जीवन में सर्वप्रथम विहार के आरा नगर के जनपद न्यायालय में वकालत करने वाले एक वकील से सुना था। एक सार्वजनिक पुस्तकालय में वह अपने मित्रों से भारत के उन हिन्दू संत के आश्चर्यजनक कारनामों को बता रहा था, जो कलकत्ता के एक बंगाली परिवार के थे और जिन्होंने शिकागो की धर्म महासभा में प्राचीन हिन्दू दर्शन को पताका को फहराया था।

सन् १८९८ में जुलाई माह के कुछ दिन बीतने पर मेरे बड़े भाई की आकस्मिक मृत्यु के कारण मुझे पवित्र नगरी वाराणसी जाना पड़ा जहाँ मेरी वृद्धा विधवा माँ पुत्रशोक में अकेले रह रहीं थीं। मैं मथुरा के श्रीद्वारिकाधीश और वृन्दावन के श्रीरंगनाथ मंदिर के प्रथम महाध्यक्ष श्री रंगाचार्य के प्रशिष्य और स्वामी भागवताचार्य के शिष्य स्वामी रामस्वरूपाचार्य जी से पहले ही दीक्षा प्राप्त कर चुका था। स्वामी रामस्वरूपाचार्य ने मुझे पूजा के विधि-विधान और ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत के साथ वैष्णव ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार किया था। इसी समय श्री सुरेशचन्द्र दत्त की 'श्रीरामकृष्ण का जीवन और सन्देश' नामक पुस्तक ने मुझे बहुत प्रभावित किया था। इस प्रकार मैं उस झरने के स्रोत के निकटतर पहुँच रहा था, जहाँ अन्ततः मेरे आध्यात्मिक जीवन की प्यास शान्त होनी थी और जिसने दूसरे अनेक लोगों की इस प्यास को शान्त किया था।

आश्विन माह में महाष्टमी का दिन था। मैं जगत दुर्लभ घोष के साथ वाराणसी में दुर्गा मन्दिर गया और तदुपरान्त अपने इसी मित्र के साथ मैं पूज्यपाद स्वामी भास्करानन्दजी को प्रणाम करने गया जो उस समय अमेठी के महाराजा के उद्यान-गृह में निवास कर रहे थे। वहाँ कुछ अन्य लोगों के साथ दो संन्यासियों—स्वामी निरंजनानन्द और स्वामी शुद्धानन्द—ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। उपस्थित लोगों के बीच में लम्बे और बलिष्ठ शरीर वाले तथा गेरुआवस्त्रधारी संन्यासीद्वय को देखकर मुझे अचानक स्वामी विवेकानन्द का स्मरण हो आया जो तब तक भारत वापस आ चुके थे।

मैंने सोचा कि सम्भवतः वे स्वामीजी ही हैं और इसकी पुष्टि की प्रतीक्षा करने लगा। लम्बे

कद वाले स्वामीजी ने स्वामी भास्करानन्दजी को 'ओम् नमो नारायणाय' के अभिवादन से सम्बोधित किया जैसी कि इस श्रेणी के संन्यासियों में परम्परा है। स्वामी भास्करानन्दजी ने भी 'नमो नारायणाय' कहकर उत्तर दिया। तब वे लोग पूर्वपरिचितों की भाँति आत्मीयतापूर्वक बातचीत करने लगे। किसी तरह स्वामी विवेकानन्द का प्रसंग आ गया और तत्काल स्वामी भास्करानन्दजी का तपोपूत गंभीर मुखमंडल प्रेम और श्रद्धा की सौम्यता से अभिभूत हो उठा तथा उन्होंने कहा, "भैया, एक मर्तबा स्वामीजी का दर्शन कराओ।" उनके चारो ओर अनेक लोग एकत्रित थे जो उन्हें एक विद्वान् और ज्ञानी के रूप में सम्मान देते थे, लेकिन वे स्वामी विवेकानन्द के लिए प्रशंसा के ऐसे उद्गार से उत्पन्न प्रभाव के बारे में उदासीन थे। लम्बे कद वाले स्वामीजी ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं निश्चय ही उन्हें पत्र लिखूँगा। वे कुछ अस्वस्थ हैं और जलवायु-परिवर्तन के लिए इस समय देवघर में हैं।" स्वामी भास्करानन्दजी ने कहा, "कृपया, रात्रि होने पर फिर आइए।" तत्पश्चात् वे लोग चले गए और इसके साथ ही वह व्यक्ति भी मेरी दृष्टि से ओझल हो गया जिसको मैं इतनी उत्सुकतापूर्वक देख रहा था। परन्तु पूछने पर पता चला कि वे स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी निरंजनानन्द थे।

सितम्बर १८९८ में एक दिन जब मैं अपनी दैनिक प्रार्थना और ध्यान के बाद बाहर आ रहा था तो मैं चारुचन्द्र दासजी से मिला, जो बाद में रामकृष्ण संन्यासी संघ में स्वामी शुभानन्द हुए और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के संस्थापक थे। जल्दी ही हम दोनों मित्र हो गए और उन्होंने मुझे मिशन द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें पढ़ने के लिए (उधार) दीं जिनमें कुछ स्वामी विवेकानन्द की कृतियाँ थी। मेरे विद्वान् मित्र केदारनाथ मल्लिक के घर में एक स्टडी-सर्किल शुरू की गई। बाद में स्वामी अचलानन्द जी और लगभग दो वर्षों तक चारू बाबू ने हम लोगों को कर्मयोग का महत्व और आध्यात्मिकता की वृद्धि हेतु जीवन पर इसके प्रभाव को समझाने के लिए बहुत कष्ट उठाया। उन्होंने हम लोगों को स्वामी विवेकानन्द की अन्य कृतियों को पढ़कर सुनाया जिसमें योग के अन्य पहलुओं पर जोर दिया गया था। हम लोग कभी-कभी केदार बाबू और चारू बाबू के घरों में और यदा-कदा अपने पारिवारिक निवास पर मिलते थे। इस प्रकार उन्होंने एक छोटा, बहुत छोटा 'सेवाश्रम' शुरु करने के लिए युवा कार्यकताओं का एक समूह इकट्ठा कर लिया।

इसी बीच हमें पता चला कि स्वामी विवेकानन्दजी जलवायु-परिवर्तन के लिए वाराणसी आ रहे हैं और राजा कालीकृष्ण ठाकुर के उद्यान-गृह में उनके निवास हेतु प्रबन्ध किए जा रहे हैं। राजा कालीकृष्ण ठाकुर स्वामी निरंजनानन्दजी से अच्छी तरह परिचित थे। हमारे आश्रम के युवकों ने स्टेशन पर फूलों और मालाओं से स्वामीजी का स्वागत करने के लिए मुझे चुना था। जब स्वामीजी ट्रेन से प्लेटफार्म पर उतरे तब मैंने मालाओं को उनके गले में और फूलों को उनके चरणों में डाल दिया। फिर मैंने ऊपर देखा और उनके पूरे मुखमंडल पर दृष्टिपात किया तो अचानक मुझे अपने स्वप्नों के चिरपरिचित मुखमण्डल का स्मरण हो आया। स्वामीजी का चेहरा मेरे स्वप्न में देखे जाने वाले चेहरे से इतना मिलता था कि मैं श्रद्धा और विस्मय से अभिभूत होकर चुपचाप खड़ा रहा। उन्होंने बहुत धीरे से मेरे बारे में पूछा "यह लडका कौन है?" और मेरे बारे में प्रश्न पूछा। स्वामीजी के चरण-कमलों में फूल बिखरे हुए थे क्योंकि वे मेरी अर्धचेतन मनःस्थिति में बद्धांजलि से गिर पड़े थे। मैंने उन्हें उनकी बगल

में खड़े अन्य लोगों से बातचीत करने के लिए मुड़ते हुए देखा; किन्तु पुनः उन्होंने अतिशय मृदुलता से मेरी सम्मोहित आँखो में अपनी प्रेम-भरी दृष्टि को गड़ा दिया और मुस्कराने लगे। सम्भवतः इसमें क्षणमात्र लगा किन्तु उसी क्षणभर में ही मैंने उन्हें असंख्य उपदेशों को देते हुए सुना, जिसका तात्पर्य था, "अपने पिता को छोड़ दो, अपना नाम छोड़ दो, और जो कुछ भी छोड़ते हो उसके बदले में मेरा सर्वस्व ले लो।" मेरी आत्मा ने उत्तर दिया, "आपके कहने पर मैं आपकी शरण में आता हूँ।" यह बीते हुए दिनों की कविता या कल्पना नहीं है, अपितु मेरे द्वारा अनुभूत सहज सत्य है।

स्वामीजी के साथ जापान से श्री ओकाकुरा आए थे जिनको हम लोगों ने अंकल अक्रूर उपनाम दिया था और जो हमारे स्वामीजी—हमारे श्रीकृष्ण—को मथुरा अर्थात् जापान ले जाना चाहते थे। स्वामीजी के साथ स्वामी निर्भयानन्द (कनाई) स्वामी बोधानन्द (हरिपद) तथा और और नाडु दो लड़के भी आए थे। स्वामी शिवानन्द और स्वामी निरंजनानन्द तब वाराणसी में थे और सभी लोग राजा कालीकृष्ण ठाकुर के 'सोनढावा' में गए।

एक दिन सायंकाल मैं और चारु बाबू वहां गये और उपर्युक्त लोगों को कुर्सियों पर बैठकर स्वामीजी के भारत-भ्रमण के बारे में श्री ओकाकुरा के साथ अंग्रेजी में वार्तालाप करते हुए पाया। मैंने प्रणाम किया और विनम्रतापूर्वक दरी बिछे हुए फर्श पर बैठ गया। स्वामीजी वार्तालाप के बीच में ही रुक गए और उन्होंने प्रेमभरी चितवन से मेरी ओर देखा जो कि कथित शब्दों से भी कहीं अधिक अभिव्यंजनापरक थे; फिर उन्होंने मुझे कुर्सी पर बैठने को कहा। उन्होंने बार-बार मुझसे कहा, "मेरे बच्चे, इस कुर्सी पर बैठ जाओ।" अनेक बार ऐसा कहे जाने पर मेरे लिए अवज्ञा करना असम्भव हो गया और मैं कुर्सी पर बैठ गया।

'सोनढावा' हमारे 'आश्रम' से पाँच मील दूर था और प्रतिदिन हम स्वामीजी का दर्शन करने वहां जाते थे एवं कभी-कभी वहाँ रात्रि-वास करके उनके साथ भोजन करते थे। स्वामीजी उस समय कोई भी स्वादिष्ट वस्तु लेते और हम लोगों में उसे बाँट देते तथा मुस्कराकर कहते, "क्या तुम इसे खाते हो? इसे चखो, इसे चखो। मैं इसे तुम्हें देता हूँ क्योंकि यह मुझे स्वादिष्ट लगी है।" किन्तु प्रतिदिन हम लोगों का वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं था, भले ही हम उसकी चाहे जितनी इच्छा रखते। एक दिन मेरी अनुपस्थिति में स्वामी शिवानन्द ने हम लोगों को दीक्षा देने के लिए स्वामीजी से प्रार्थना की जिससे वे सहमत हो गए किन्तु इसके लिए कोई तिथि नियत नहीं की। चारु बाबू और हरिदास चटर्जी ने इस हेतु स्वामीजी से स्वयं तिथि निश्चित करने के लिए मुझ से अनुरोध करने को कहा। अतः मैं इस अनुरोध के साथ स्वामीजी के पास गया। वे मुस्कराते हुए प्रसन्न स्वर में बोले, "क्यों, तुमने तो रामानुज वैष्णव के रूप में पहले से ही दीक्षा प्राप्त की है। विष्णु की पूजा बहुत अच्छी है। मैं तुम्हें पुनः दीक्षा देने का कोई कारण नहीं देख रहा हूँ।" मैंने अनुनय-विनय किया, "किन्तु आपके समान योगी से दीक्षा प्राप्त करने की मेरी इच्छा है।" इस पर उन्होंने मुस्कराकर सहमति दे दी।

कुछ ही दिनों में मेरे बड़े भाई, जो चिकित्सक थे और मुझ से उम्र में कुछ ही बड़े थे, की अचानक मृत्यु हो गई। इससे मुझे इतना गहरा सदमा लगा कि जैसे मेरे ऊपर सीधे गोला बरस गया हो। कुछ दिनों बाद स्वामीजी ने मुझसे पूछा, "मैंने सुना है कि तुम्हारे भाई की मृत्यु हो गई है। तुम्हें कैसा

अनुभव हो रहा है ? तुमने माँ को कैसे सान्त्वना दी ?" मैंने सब कुछ बताया तो स्वामीजी ने दुःख-पूर्वक कहा, "यदि मेरे भाई का ऐसा हुआ होता तो निस्सन्देह मुझे बहुत ही गहरा दुःख होता।" उस समय स्वामीजी इसे स्वयं का दुःख अनुभव कर रहे थे, इस प्रकार की सहानुभूति से मेरा सारा दुःख तत्क्षण आश्चर्यजनक ढंग से समाप्त हो गया। मैंने अनुभव किया कि वे मेरे सच्चे मित्र और एक भाई से भी अधिक हैं तथा इसके साथ ही मैंने स्वयं को उनके चरणों में सम्पूर्ण रूप से और अविचलित भाव से आत्मसमर्पित करने का व्रत लिया।

सामान्यतया यह परम्परा है कि बिना श्राद्ध कर्म किए दीक्षा नहीं प्राप्त होती। किन्तु स्वामी जी ने मेरे लिए इसका अपवाद कर दिया और 'अधिवास' के लिए रात्रि में मुझे रुकने को कहा क्योंकि दूसरे ही दिन दीक्षा देना निश्चित था। प्रातःकाल हमलोगों ने स्नान किया और तैयार होकर उनके कमरे के सामने प्रतीक्षा करने लगे। हम लोगों की आशा के पहले ही दरवाजा खुल गया और स्वामीजी दिखाई पड़े। उनका चेहरा ईश्वरीय तेज से उद्भासित था और उन्होंने विचित्र स्वर में और साथ ही हाथ से इशारा करके हम लोगों को एक-एक करके आने को कहा। चारू बाबू ने मुझे पहले जाने के लिए आगे बढ़ाया और जैसे ही मैं उनके पास गया उन्होंने कहा, "अरे! तुम पहले आ गए। ठीक है, मेरे बच्चे, मेरे साथ आओ।" तब हम दोनों एक दूसरे छोटे कमरे में गए जहां फर्श पर दो छोटी-छोटी दरियां बिछी थीं। एक दरी पर स्वामीजी बैठे और दूसरी पर मैं बैठा।

कुछ ही मिनटों में स्वामीजी गहरी समाधि में डूब गए। उनका शरीर सीधा एवं निश्चल, सभी अंग स्थिर, आंखें अर्ध-निमीलित और बहुत चमकीली थीं। उनके मुखमण्डल पर ईश्वरीय भाव, शक्ति और प्रेम था। वे आनन्द की प्रतिमूर्ति थे। किन्तु उनकी गंभीर शान्ति ने सभी मनोभावों को आत्मसात कर लिया था और सभी मनोभाव किसी तरंग या छोटी लहर से भी रहित होकर उनके अधीन थे। प्रेम और मुस्कराहट के आकर्षण के साथ वे एक व्यक्ति के रूप में थे जिन्होंने मुझे इशारा करके कमरे के भीतर बुलाया था और अब मेरे सम्मुख बैठकर वे एक दूसरे व्यक्ति थे जो प्रेम या अन्य किसी मनोभाव से परे चले गए थे।

इस प्रकार वे स्थिर भाव से बैठे रहे और हम लोग समय की गति से विस्मृत रहे। स्वामीजी इस अवस्था की अभिव्यक्ति और ईश्वरीय सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करते प्रतीत हो रहे थे और यह सब धीरे-धीरे उनके शरीर के भीतर नियंत्रित एवं विलीन होता जा रहा था। उन्होंने मेरे हाथ को कुछ क्षण के लिए अपने हाथ में लिया और फिर उन्होंने मेरे अतीत जीवन की कुछ घटनाओं को बताया और कहा, "स्टीमर से छपरा जाते समय जब तुमसे कोई बात कर रहा था तो तुम्हें कैसा अनुभव हुआ था ?" मैं उस घटना को भूल चुका था किन्तु उन्होंने मुझे उसे स्मरण करने को कहा। स्वामी रामस्वरूपाचार्य से मैं आरा में मिला था और बाद में उन्होंने मुझे वैष्णव मंत्र प्रदान किया था। वे आजमगढ़ जिले के निवासी थे। वे विशिष्टाद्वैत दर्शन के रामानुज सम्प्रदाय के थे। स्वामीजी ने उनका स्मरण करने का निर्देश दिया और जब मैंने वैसा किया तो उन्होंने कहा, "अब श्रीरामकृष्ण का चिन्तन करो और मुझे उनमें विलीन कर दो तथा फिर श्रीरामकृष्ण को गणेश में विलीन करो। गणेश संन्यास के आदर्श हैं।"

उनका स्पर्श करने पर मेरी सभी इच्छाएँ और विचार मेरे मन से तिरोहित हो गए। कोई

आकर्षण या विकर्षण, इच्छा या आकांक्षा नहीं थी। मुझे नहीं मालूम कि मैं उस अवस्था में कितनी देर तक रहा किन्तु धीरे-धीरे मुझे अपने शरीर का बोध हुआ और मैं कमरे ईत्यादि की सभी वस्तुओं को थोड़े धुंधले रूप में देख सकता था। मेरी दीक्षा हो चुकी थी और स्वामीजी ने दूसरे दीक्षार्थी को भेजने के लिए मुझसे कहा। मैं बाहर गया और चारू बाबू को भेजा जिनकी दीक्षा भी ठीक इसी प्रकार हुई। इसके बाद हरिदास चटर्जी ने दीक्षा प्राप्त की।

दीक्षा के बाद हम लोगों ने स्वामीजी के साथ भोजन किया और बाद में मैं चला गया क्योंकि स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुप्राणित सेवा के आदर्श से प्रेरित होकर तीन वर्ष पूर्व शुरू किया गया सेवाश्रम का कार्य मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। अनेक कार्यकर्ताओं ने अपना घर छोड़ दिया और वे दान पर आश्रित रहने लगे जिससे उनकी शक्तियों पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा। किन्तु सेवाश्रम का कार्य निर्विघ्न चलता रहा और पूरी शक्ति से कार्य करने के कारण सबका स्वास्थ्य गिरने लगा। स्वामीजी इससे बहुत निराश हो गए। एक दिन उन्होंने सबको बुलाया और उचित तरीके से पौष्टिक भोजन करने को कहा क्योंकि दूसरों की सेवा करने के लिए शरीर को स्वस्थ और सबल रखना जरूरी था। वे कहा करते थे कि भोजन का चयन करने में कार्य के स्वरूप और कार्यकर्ता की शारीरिक स्थिति को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हममें से अधिकांश मिताहारी थे और कुछ विशिष्ट भोज्य पदार्थों तथा मिठाइयों इत्यादि को नहीं खाते थे। परन्तु स्वामीजी ने सर्वप्रथम सेवा के उद्देश्य और लक्ष्य पर बहुत जोर दिया। दूसरों की सेवा करने के लिए शरीर स्वस्थ एवं सबल होना चाहिए। इस प्रकार सच्चे कार्यकर्ता और कर्मयोगी के लिए मिताहार तथा निजी संस्कारों का बहुत कम महत्व था। उन्होंने हम लोगों को अपने साथ भोजन करने को कहा ताकि वे इसका अक्षरशः पालन देख सकें। हममें से कुछ अपने परिवारों में भोजन करते थे किन्तु फिर भी बार-बार वे हम लोगों से अपने साथ भोजन करने को कहते और हम लोग यथासंभव वैसा करते थे।

हम लोगों में एक बहुत ही दुबला-पतला कार्यकर्ता था जिस पर स्वामीजी का ध्यान गया। वे हम लोगों पर कितने दयालु थे उसे इस बच्चे के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह युवक बंगाल के किसी दूरस्थ भाग से आया था और वाराणसी में सर्वथा निराश्रित था। अतः वह आवश्यकतावश एक कार्यकर्ता के रूप में सेवाश्रम में कार्य करता था किन्तु वह बहुत दुबला-पतला और बीमार जैसा था। एक दिन वह स्वामीजी का दर्शन करने गया। स्वामीजी ने उसके बारे में पूछा और उसे प्रतिदिन अपने साथ भोजन करने को कहा, "मेरे बच्चे, तुम सबल नहीं हो और तुम्हें कार्य करना पड़ता है। तुम्हें अच्छी तरह भोजन करना चाहिए। तुम प्रतिदिन आकर मेरे साथ भोजन किया करो। कम से कम दोपहर का भोजन तुम मेरे साथ यहाँ करो।"

(क्रमशः)

कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है।
मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उत्स है।

—स्वामी विवेकानन्द

युवा मंच

युवकों के प्रश्न : स्वामी निखिलेश्वरानन्द के उत्तर

[स्वामी निखिलेश्वरानन्द रामकृष्ण आश्रम, राजकोट में कार्यरत और वहीं से प्रकाशित रामकृष्ण संघ की गुजराती मासिक पत्रिका 'रामकृष्ण ज्योत' के यशस्वी एवं प्रबुद्ध सम्पादक हैं। १८९३ में में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द की सहभागिता की शताब्दी के सन्दर्भ में अद्वैत आश्रम, मायावती ने उस क्षेत्र की शिक्षण संस्थाओं में अनेक सभाओं का आयोजन किया था। इन सभाओं में स्कूल-कॉलेज के छात्रों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था एवं आज के युवजनों की समस्याओं से जुड़े अनेक प्रश्न किये थे जिनका उत्तर स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी ने तर्क संगत रूप से प्रस्तुत किया था।

इन सभाओं में स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं उपदेशों से संबंधित पुस्तकें भी छात्रों में निःशुल्क वितरित की गयी थीं।

स्वामी निखिलेश्वरानन्दजी से पूछे गये कुछ प्रश्नों और उनके उत्तरों का सारांश अक्टूबर, १९९२ के 'प्रबुद्ध भारत' कलकत्ता में प्रकाशित हुआ था। युवकों के लाभ के लिए उसका हिन्दी रूप यहां प्रस्तुत है। रूपान्तरकार है—डा० केदारनाथ लाभ।]

प्रश्न—आत्म-विश्वास कैसे बढ़ाया जाय ?

(लोहाघाट, पिथोरागढ़, उ० प्र० के पोलिटेकनिक (बहु-शिल्प) का एक छात्र।)

उत्तर—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, आत्म-विश्वास को बढ़ाने के लिए हमलोगों को पी० एम० ए० (सकारात्मक मानसिक मुद्रा) बढ़ाना चाहिए और एन० एम० ए० (नकारात्मक मानसिक मुद्रा) से परहेज करना चाहिए। मैं आपको एक आसान तरीका बताऊँगा, जिसका कई छात्रों द्वारा प्रयोग किया गया है। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को कम-से-कम १५ मिनटों तक, खासकर रात में सोने जाने के पहले, पढ़िए। आप किसी छोटी-सी पुस्तक से शुरू कर सकते हैं; जैसे 'शक्तिदायी विचार'। यह १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' से चुने हुए शक्तिपूर्ण विचारों का एक लघु संकलन है।

कई छात्रों ने मुझे लिखा कि वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि पुस्तकों के पढ़ने से आत्म-विश्वास बढ़ता है। लेकिन स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों का कुछ महीनों तक नियमित अध्ययन करने के उपरान्त उनका आत्म-विश्वास बढ़ने लगा है। हां, याद रखिए कि स्वामीजी की पुस्तकों को केवल आंखों से नहीं बल्कि मन से भी पढ़ना चाहिए। सिन्दरी इंजीनियरिंग कॉलेज (अभियांत्रिकी महाविद्यालय) बिहार की रासायनिक अभियांत्रिकी (केमिकल इंजीनियरिंग) की तृतीय वर्ष की छात्रा सुतपा घोष ने मुझे लिखा कि उसका आत्म-विश्वास केवल तब बढ़ा जब उसने स्वामीजी की पुस्तकों के पाठ में वस्तुतः अपना मन गंभीरता से लगाना तथा उनके उपदेशात्मक वचनों को अपने जीवन के दिशा-निर्देशक के रूप में प्रयुक्त करना शुरू किया। अतः स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को

सतर्कतापूर्वक और नियमित रूप से पढ़िए, खासकर रात में पलंग पर जाने के पहले। कुछ ही महीनों में आप अपना आत्म-विश्वास बढ़ता हुआ पायेंगे।

एक ग्रामीण क्षेत्र का युवक आत्म-विश्वास के अभाव से ग्रसित था। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को पढ़ने के बाद, उसने अपनी हीनभावना पर, जो मुख्य रूप से उसकी दरिद्रता के कारण उपजी थी, विजय पा ली। वह लड़कों को ट्युशन पढ़ाने लगा और आत्म-निर्भर हो गया। बाद में, उसका व्यक्तित्व यहां तक विकसित हो गया कि जब वह एक फार्मास्यूटिकल फर्म (औषधि विज्ञान सम्बन्धी व्यावसायिक संस्था) के द्वारा अंतर्वीक्षा के लिए बुलाया गया तो वह साठ उम्मीदवारों में से चुन लिया गया, यद्यपि वह उन सबसे कम वय का था। उसके उत्कृष्ट कार्य-निष्पादन के फलस्वरूप दो वर्षों के भीतर ही फर्म ने आगे के अतिरिक्त प्रशिक्षण के लिए उसे विदेश भेज दिया। अपने शानदार कार्य-निष्पादन के लिए पांच वर्षों के भीतर उसने चार स्वर्ण पदक प्राप्त किये और आज वह उस फर्म का क्षेत्रीय बिक्री प्रबन्धक है (—ब्लू क्रॉस लिमिटेड, राजकोट के श्री हरपाल बल।)

मैं एक दूसरे लड़के को जानता हूँ जिसकी इच्छा पहलवान बनने की थी। लेकिन उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी। एक बार स्वामी विवेकानन्द के एक वाक्य पर उसकी दृष्टि पड़ी। वाक्य था—'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना रुको मत।' वह आवेश से भर उठा। उसने और अधिक पुस्तकें पढ़ीं तथा और अधिक विश्वास से व्यायाम करने लगा। दो वर्ष पहले वह पूरे गुजरात राज्य में सर्वश्रेष्ठ पहलवान निर्णीत किया गया (—ग्राम, धरमपुर, जिला—वालसाड, गुजरात के श्री सचीन राजपूत।)

एक कॉलेज की छात्रा बड़ी मिहनत से पढ़ा करती थी, लेकिन उसका परीक्षाफल बढ़िया नहीं हुआ, क्योंकि उसमें आत्म-विश्वास का अभाव था। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को पढ़ने के बाद, उसका आत्म-विश्वास इतना बढ़ गया कि सौराष्ट्र विश्वविद्यालय से १९९३ ई० में एम० ए० (मनोविज्ञान) में उसने स्वर्ण पदक प्राप्त किया। (—राजकोट की सुश्री तेजल नसित।)

इसलिए इस तरीके को आजमाइए और आप, खुद गम्भीरता से लागू कीजिए। यह अपने भीतर आत्म-विश्वास का विकास सुनिश्चित करेगा।

प्रश्न—हम अपनी संकल्प-शक्ति कैसे बढ़ा सकते हैं? (सेन्ट्रल स्कूल, पिथोरागढ़, उ० प्र० का एक छात्र।)

उत्तर—संकल्प-शक्ति बढ़ाने का स्वर्णिम-सूत्र यह है कि 'आप न्यूनतम या 'कम से कम' से शुरू कीजिए और सरलतम या 'आसान से आसान' का अभ्यास कीजिए। उन कठिन क्रिया-कलापों की एक सूची तैयार कीजिए जो आप में यह धारणा उत्पन्न करते हैं कि आप की संकल्प-शक्ति दुर्बल है। इन क्रिया-कलापों में से किसी एक ऐसे कार्य को चुनिए जो आपको कम कठिन प्रतीत होता हो। आप उस कार्य को बिना इस चिन्ता के कि आप बार-बार विफल होते हैं, करना शुरू कीजिए। लेकिन ध्यान रहे कि आप न्यूनतम से शुरू करें। उदाहरण के लिए, यदि आप एक ही दौर में लगातार दो घंटों तक अपने पढ़ने की कुर्सी पर बैठने में कठिनाई का अनुभव करते हैं तो आप संकल्प कीजिए कि कम से कम घंटे तक अपनी कुर्सी से बिना उठे हुए आप अध्ययन करेंगे। दो सप्ताहों तक उसे नियमित रूप से कीजिए। इससे आप में यह आत्म-विश्वास उत्पन्न होगा। आप एक दौर में अपने पढ़ने की कुर्सी पर एक

घंटे तक लगातार बैठ सकते हैं। आप उस समय को आधे घंटे के लिए बढ़ा दीजिए। दो सप्ताहों तक सफलतापूर्वक उसको कार्यान्वित करने के बाद, आप एक ही दौर में दो घंटों तक लगातार बैठने का प्रयास कर सकते हैं। इस उपलब्धि के पश्चात् आप अपने में प्रचण्ड आत्म-विश्वास का अनुभव करेंगे और आपकी संकल्प-शक्ति भी बढ़ेगी।

प्रश्न—जीवन में सफलता प्राप्त करने का मुख्य स्रोत क्या है? (चम्पावत, पिथौरागढ़, उ० प्र० के जी० आइ० सी० का एक छात्र।)

उत्तर—इमर्सन के मतानुसार 'व्यापार, वाणिज्य, युद्ध और मनुष्य के द्वारा किये जानेवाले समस्त कार्यों के प्रबन्ध में सफलता की कुंजी है मन की एकाग्रता।' सभी श्रेष्ठ खिलाड़ियों, संगीतज्ञों, कलाकारों और अन्य लोगों की सफलता का रहस्य मन की एकाग्रता है जिसे उन्होंने कठिन श्रम और निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्राप्त की है। स्वामी विवेकानन्द के विशाल व्यक्तित्व की सफलता का राज भी उनके मन की एकाग्रता की शक्ति ही था। एक बार वे बेलुड़ मठ के अपने कमरे में अंग्रेजी विश्वकोश (Encyclopaedia Britannica) पढ़ रहे थे। उनके शिष्य शरत चक्रवर्ती ने उक्त पुस्तक के विशालकाय खण्डों को देख चिल्लाकर कहा, किसी के लिए भी इतनी पुस्तकें एक जीवन में पढ़ना तो कठिन हैं।' स्वामी विवेकानन्द ने कहा—'क्या कहता है? मैं दस खण्ड पहले ही पढ़ चुका हूँ। इन दस पुस्तकों में से मुझसे जो चाहे पूछ लें—सब बता दूँगा।' शिष्य ने उन सब पुस्तकों से चुन कर कई कठिन प्रश्न पूछे और स्वामीजी ने उन सभी प्रश्नों के सही उत्तर तो दिये ही, स्थान-स्थान पर पुस्तक की भाषा तक उद्धृत कर दी। शिष्य ने स्वामीजी की इस असाधारण शक्ति का रहस्य जानना चाहा। स्वामीजी ने बताया कि इसका कारण मन की पवित्रता से निष्पन्न उनकी मानसिक एकाग्रता ही है।

पश्चिमी देशों की अपनी दूसरी यात्रा के दौरान एक दिन स्वामीजी एक पुल से गुजर रहे थे। उन्होंने कुछ युवा घुड़सवारों को नीचे नदी की जलधारा पर तैरते अंडों पर बन्दूक की गोली दागने का प्रयास करते देखा। गोलियों को बहक जाते और लक्ष्य बेध नहीं करते देख, स्वामीजी अपनी हँसी नहीं रोक सके। घुड़सवार चिढ़ गये और उन्होंने स्वामी विवेकानन्द से कहा—'तो आप हम लोगों पर हँस रहे हैं! जरा देखें आप इन अंडों को कैसे गोली से दाग सकते हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वामीजी को बन्दूक थमा दी। स्वामीजी ने बन्दूक ली और पहली चेष्टा में ही सभी अंडों को दाग दिया। घुड़सवार युवकों ने विस्मित होकर कहा, 'क्या यह जादू है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'नहीं, यह जादू नहीं है। यह मन की एकाग्रता से निःसृत शक्ति का फल है।' अतः, एकाग्रता की शक्ति से किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सकती है।'

प्रश्न—अभी अभी आपने कहा कि मन की एकाग्रता मन की पवित्रा से उपजती है। किन्तु मन की वह पवित्रता कैसे प्राप्त की जा सकती है? (चम्पावत का एक जी० आई० सी० का छात्र।)

उत्तर—मन की पवित्रता अपने मन को निरन्तर पवित्र विचारों से भरकर संवर्धित की जा सकती है। नियमित ध्यान, प्रार्थना और सद्ग्रंथों के स्वाध्याय से हमारा मन धीरे-धीरे पवित्र हो जाएगा। हमलोगों को अपने आहार पर ध्यान देना होगा। आहार का अर्थ मुँह से खाया जाने

वाला भोजन ही नहीं है, बल्कि इसका अर्थ वह भोजन भी है जो हम अपनी आंखों, कानों आदि से ग्रहण करते हैं। आपको तीन बन्दरों से प्रेषित सन्देश याद होगा, जिसका उद्धरण देना महात्मा गांधीजी को प्रिय था—'बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो, बुरा मत बोलो।' बुरी चीजें मत देखिए, बुरी बातें नहीं सुनिए, दूसरों की बुराई मत कीजिए।

हमारे एक वरिष्ठ स्वामीजी स्विट्जरलैंड गये हुए थे। वहां उन्होंने एक झील के तट पर उन तीन बन्दरों का एक अनूठा प्रदर्शन देखा। एक बन्दर की एक आंख खुली थी और दूसरी बन्द थी। दूसरे बन्दर का एक कान खुला था और दूसरा कान बन्द था। तीसरे बन्दर का आधा मुँह खुला था और आधा बन्द था। पहले तो वे इसका अर्थ नहीं समझ सके, क्योंकि अबतक उन्होंने बन्दरों को दोनों आँखें बन्द, दोनों कान बन्द और मुँह बन्द किये हुए चित्रित देखा था। उन्हें कौतुक हुआ कि आखिर इस चित्र का क्या अर्थ हो सकता है। तब उन्हें वेद की एक ऋचा का स्मरण हो आया—

> भद्रं कर्णेभिः शृणुयामदेवाः
> भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः.........।

अर्थात् 'हम शुभ बातें सुनें, शुभ वस्तुएँ देखें आदि।' अतएव हम अपनी आंखों, कानों आदि से सात्विक आहार ही ग्रहण करें और तामसिक भोजन से परहेज करें यथा टी॰ वी॰ पर प्रदर्शित गन्दे चित्र देखने से बाज आएँ और केवल श्रेष्ठ चित्र ही देखें। दूसरों की आलोचना करने से परहेज करें और अच्छी बातें ही सुनें। दूसरों की बुराई से बचें और भद्र बातें ही बोलें आदि। हर संभव तरीके से हमलोग सद्विचारों को ही पनपने दें। धीरे-धीरे हमारा मन पवित्र हो जाएगा। इससे मन की एकाग्रता बढ़ेगी और यह हमारे आध्यात्मिक विकास में भी सहायक होगा।

त्याग का अहंकार

नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित थे, वे राजा भर्तृहरि शतक लिख रहे थे। उन्हें कई दिनों से भोजन प्राप्त नहीं हुआ था। शतक पूरा करने के पहले शरीर न छूटे, इसलिये वे भोजन की तलाश में निकले। उन्होंने देखा कि श्मशान में चिता जल रही थी व पास ही दो हंडियों में चावल व पानी रखे थे। उन्होंने चिता में चावल पकाये।

यह देख, पार्वतीजी शंकरजी से बोलीं, 'स्वामी भर्तृहरि का वैराग्य अद्भुत है'। शंकरजी ने कहा, 'वैराग्य अभी पूर्ण नहीं है, चाहो तो परीक्षा कर लो। तब दोनों ब्राह्मण का वेश धारण कर भर्तृहरि के पास पहुँचे व भिक्षा मांगी। भर्तृहरि ने चावल दे दिये व जल मांगा तो जल भी दे दिया। पार्वतीजी शंकरजी से बोलीं, 'अब तो वैराग्य पूर्ण है ना ?' शंकरजी ने कहा, 'नहीं'। शंकरजी ने भर्तृहरि से कहा कि हम दोनों को चावल व जल पूरा न देकर थोड़ा अपने लिये तो रख लिया होता। अब भर्तृहरि में जो त्याग का अहंकार था वह बोला, 'अरे बाबा, इस थोड़े से चावलों का क्या महत्त्व, मैंने तो पूरे मालवा के राज्य का त्याग कर दिया है।'

शंकर जी पार्वतीजी से बोले, 'अभी इसमें यही कमी है।'

त्याग करने का अहंकार भी यदि मन में बना है तो सही अर्थों में त्याग हुआ नहीं।

जैसा भाव, वैसा लाभ

—श्री श्रीरामकृष्ण

किसी शिव मन्दिर के निकट एक संन्यासी रहा करते थे। सामने ही एक वेश्या का मकान था। वेश्या के यहाँ दिन-रात लोगों का ताँता लगा रहता। उसका जीवन देख संन्यासी के मन में बहुत दुःख होता। एक दिन संन्यासी ने उस वेश्या को बुलाकर फटकारते हुए कहा, 'तू बड़ी पापिन है, दिन-रात पाप किया करती है। अन्त में तेरी क्या गति होगी ?' सुनकर वेश्या को अत्यन्त पश्चाताप हुआ और वह मन ही मन स्वयं को धिक्कारती हुई ईश्वर से खूब प्रार्थना करने लगी। वह दूसरा कुछ नहीं कर सकती थी, पेट के लिए उसे वही धन्धा करना पड़ता था। परन्तु उस दिन से वह जब कभी पापकर्म करती, अत्यन्त कातर हो भगवान् से प्रार्थना करती, क्षमा माँगती। इधर संन्यासी ने विचार किया, 'देखूँ आज से इसके पास कितने लोग आते हैं।' और उस दिन से वे संन्यासी वेश्या के यहाँ जितने लोग आते उतने ही कंकड़ एक ओर जमाकर रखने लगे। होते-होते कंकड़ों की ढेरी जम गई। फिर एक दिन संन्यासी ने उस स्त्री को कंकड़ों की ढेरी दिखाकर कहा, 'देख, थोड़े ही दिनों में तूने कितना पाप किया है। अब भी तू सावधान हो जा !' कंकड़ों की ढेरी देख वह स्त्री व्याकुल हो रोते हुए भगवान् से प्रार्थना करने लगी 'हे भगवान मुझे बचाओ, रक्षा करो।' भगवान की लीला अगम्य है। कुछ ही दिन बाद उस वेश्या और संन्यासी दोनों की एक साथ मृत्यु हो गई। उस समय यमदूत आकर संन्यासी को और विष्णुदूत आकर वेश्या को ले जाने लगे। यमदूतों को देख संन्यासी ने घबराकर कहा "तुम लोगों से भूल हो गई है। विष्णुदूत मेरे लिए आये होंगे और तुम लोग अवश्य ही उस वेश्या के लिए भेजे गए हो।" यमदूतों ने कहा, 'नहीं, नहीं; हमसे कोई भूल नहीं हुई, सब ठीक ही है।' संन्यासी ने क्रोधित होकर कहा, "क्या ? मैं जीवन भर भगवान् का नाम लेता रहा और वह औरत वेश्यागिरी करती रही। पर इस समय मुझे तुम लोग और उसे विष्णुदूत ले जाएगें ! यह कैसी बात है !" यमदूतों ने कहा, "उसनें वेश्यागिरी नहीं की, वेश्यागिरी तो तुम करते रहे। और तुमने भगवान् का नाम नहीं लिया, भगवान् का नाम तो वह लेती रही। तुम अच्छी तरह सोचकर देखो। जिसका जैसा भाव है उसे वैसा ही लाभ होता है।"

एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो०-बेलुड़ मठ, जिला-हावड़ा
(प० बंगाल) ७११ २०२

जैसा कि आप में से अधिकांश लोग जानते हैं कि विश्वव्यापी रामकृष्ण भावधारा के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियों के संरक्षणार्थ बेलुड़ मठ में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है, जिसका उद्‌घाटन १३ मई, १९९४ ई० को संघाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी के हाथों सम्पन्न हुआ था।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये गये वस्त्र, पादुकाएँ तथा अन्य वस्तुएं, उनके द्वारा लिखित पत्र और उनके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों आदि को संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय में संलग्न अत्याधुनिक पुराभिलेखागार में उपर्युक्त वस्तुओं को आधुनिकतम तकनीक की सहायता से संरक्षित किया जाता है। हमें आपको यह भी सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि विगत ४ फरवरी, १९९६ को पूज्य संघाध्यक्ष महाराज ने एक नयी तकनीकी दृष्टि से नियोजित, विशाल संग्रहालय तथा पुराभिलेखागार भवन की आधारशिला रखी।

वैसे अनेक व्यक्ति तथा संस्थाएँ अपने पास पड़ी ऐसी वस्तुएँ हमें दे रहे हैं, तथापि हम एक बार पुनः अपने भक्तों, संस्थाओं तथा जनसाधारण से यह अपील करते हैं कि वे अपने पास पड़ी इस तरह की किसी भी स्मरणीय वस्तु को बेलुड़ मठ के ट्रस्टियों अथवा अपने निकट स्थित हमारे किसी भी शाखाकेन्द्र को सौंप दें। हम एक बार पुनः दुहराते हैं कि यदि ये वस्तुएँ वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षित नहीं की गयी, तो वे समय के आघात को नहीं झेल सकेंगी और सदा के लिए दुनिया से विलुप्त हो जायेंगी। हम आपके हार्दिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं और हम इसके लिए आपका चिर आभारी रहेंगे।

पुराभिलेखागार के कार्य, प्रस्तावित भवन का मॉडल तथा प्रदर्शित वस्तुओं के नमूनों के आधार पर बनायी गयी १५ मिनट का एक वीडियो कैसेट विक्रय के लिए उपलब्ध है जिसे रामकृष्ण संग्रहालय, बेलुड़ मठ और हमारे कुछ भारतीय तथा विदेश में स्थित केन्द्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

१७-६-१९९६

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

डाक पंजीयित संख्या—पी० एच० पी०—१४-८३

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की बहुप्रतीक्षित बृहत् जीवनी

युगनायक

विवेकानन्द

तीन खण्डों में

स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित
स्वामी विवेकानन्दजी की यह मूल बंगला जीवनी
उनका अत्यन्त प्रामाणिक और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न
जीवन-चरित मानी जाती है। सर्वदूर समादृत यह ग्रन्थ अब
हिन्दी-भाषी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। हिन्दी में
स्वामी विवेकानन्दजी की बृहत्, प्रमाणभूत जीवनी का
अभाव था, जिसकी पूर्ति इस प्रकाशन से अब
हो गई है।

हर खण्ड करीब डमाई ४०० पृष्ठों का है।

हर खण्ड का मूल्य रु० ५०/-　　　　तीन खण्डों का एकत्रित मूल्य रु० १२०/-

प्रकाशक :

रामकृष्ण मठ

(प्रकाशन विभाग), धन्तोली, नागपुर—४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।